nd Life Series प्रेमोपहार.

?र निराशा क्यों ?

Why then Despair?

BY GULAB RAO, M.A., LL.B.
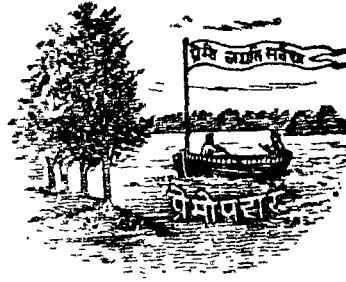
लेखक

गुलाबराय,

एम. ए., एलएल. बी.

प्रकाशक

कुमार देवेन्द्रप्रसाद

प्रेममंदिर-आरा

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

क्रम सख्या ९१६२
काल नं० 220.5
खण्ड

And something ever more about to be.

WORDSWORTH

प्रेमोपहार

आशाहि परमं धनम्

फिर निराशा क्यों ?

लेखक

गुलाबराय, एम० ए०, एल-एल० बी०

तुलसी बिरवा बाग के सींचत रहे सुजान।
कबहुँ तो फल लागिहैं जिमि गाडर की बार॥

प्रकाशक

कुमार देवेन्द्रप्रसाद
प्रेममन्दिर—आरा।

प्राप्नोतीष्टमविक्लवः

Hope like the glimmering taper's light
Adorns and cheers the way,
And still the darker grows the night,
Emits a brighter ray.

—Goldsmith

सूची ।

१	वक्तव्य (लाला कन्नोमल जी एम ए.) ...	५
२	लेखक का वक्तव्य	१७
३	फिर निराशा क्यों ?	२३
४	मनुष्य की मुख्यता ।	२६
५	सत्तासागर ।	३२
६	समष्टि व्यष्टि	३६
७	हमारा कर्तव्य और हमारी कठिनाइयां । ..	४०
८	सौन्दर्य्योपासना ।	४३
९	कुरूपता ।	४७
१०	विश्वप्रेम और विश्वसेवा । ..	५०
११	अपूर्ण की पूर्णता । ..	५५
१२	पुनीत पाप ।	५८
१३	स्वयम्भू सुधारकों का सुधार ।	६२
१४	दुःख । .. .	६६
१५	भूल ।	६९
१६	हमारा नेता कौन	७३
१७	कर्मयोग की मोक्ष । .	७६
१८	चिर-वसंत । ..	७९

फिर

निराशा क्यों ?
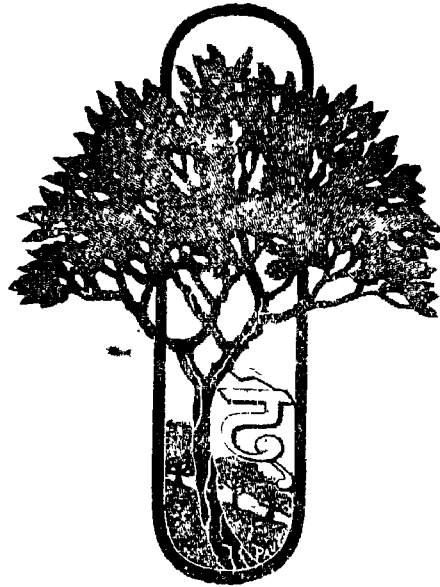
Why

then Despair ?

वक्तव्य ।

संसार के विषय में दार्शनिक विद्वानों की मुख्यत दो सम्मतियां हैं। एक सम्मति तो यह है :—

संसार एक नितान्त दुःखागार है। यहाँ अनेक व्याधियां, असहनीय पीड़ाएं, अगणित आपत्तियाँ, हृदयदाहिनी चिन्ताएं, मनुष्यों को सदैव घेरे हुये हैं। कोई वृद्धावस्थाजरारोगादि से पीड़ित है; कोई पुत्र शोक से विह्वल है; कोई सन्तानाभाव दुःख से दुःखित है; कोई धनाभाव, दरिद्रता एवं ऋणादि दुःख से व्याकुल है, कोई धनोपार्जन के कष्टों से अशान्त चित्त है; कहीं जन्म, कहीं मरण, कहीं रुदन, कहीं कराल बुभुक्षा, कहीं शरीर पीड़ा, कहीं पुत्र कलत्र शोक सन्ताप; सुख शांति कहीं नहीं है। जिस वस्तु को देखो वही परिवर्तन-शील और नाशवान है। नवयौवना मनोरमा सुन्दरी, वृद्धाकुरूपा हो जाती है, अनेक संग्राम विजियीवीर जरा और रोग से जर्जर शरीर हो जाते हैं। आज जो नितान्त दर्शनीय, कलाकौशल सम्पन्न, अलौकिक शोभायुक्त भवन दिखाई देते हैं, कल वे कराल काल की अनन्तर गति से

ऊल्लूक निवास खण्डहर हो जाते हैं। संसार की कौन ऐसी वस्तु है जो कराल काल का ग्रास नहीं बन जाती। समस्त सांसारिक वस्तुओं पर 'परिवर्तन और नाश' बड़े २ मोटे अक्षरों में लिखे हैं। महात्मा भर्तृहरिजी ने सत्य कहा है।—

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवस स्थायिनी यौवन श्रीरर्थाः संकल्प कल्पाघन समय तडिद्विभ्रमा भोगपूराः। कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपिच न चिरं प्रियाभिः प्रणीतं ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भव भयाम्भोधिपारं तरीतुम्॥

यदामेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्नि निहतः समुद्राः शुष्यन्ति प्रचुर निकरग्राह निलयाः। धरागच्छत्यन्तं धरणि धर पादै रपिधृता शरीरका वार्ता कलभ करिकलभ कर्णाग्रचपले॥

जब संसार की यह दशा है तो फिर यहां सुख कैसा। इसी असारता पर विचार कर भारतवर्ष के अनेक ऐश्वर्य सम्पन्न गृहस्थ पराक्रमी शूरवीर एवं संसार विजयी सम्राट अपने सब सांसारिक ऐश्वर्य तथा राज्याडम्बर को त्याग वनों को चले गये और ईश्वराराधाना में अपना शेष जीवन व्यतीत किया। इनके आनन्द का आदर्श निम्न लिखित श्लोकों से ज्ञान होगा।

गंगातीरे हिमगिरि शिलाबद्धपद्मासनस्य, ब्रह्मध्यानाभ्यसन विधिना योग निद्रां गतस्य॥ किंतैर्भाव्यंमम सुदिवसैर्यत्रतेनिर्विशंकाः संप्राप्स्यन्ते जरठ हरिणाः श्रृंगकंडु विनोदं।

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः॥ कदा शम्भोभविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥

दूसरी सम्मति यह है :—

संसार में दुःख और पीड़ा अवश्य है; परन्तु सुख और आनन्द की मात्रा अधिक है। गुलाब के फूल में कांटा अवश्य है, परन्तु उसकी सुन्दरता, सुगंधि एवं उपयोगिता इतनी अधिक मात्रा में है कि जो पीड़ा उसके कांटे से होती है वह उनकी अपेक्षा नहीं की बराबर है। क्या कोई इस पुष्प को उसके कांटे की पीड़ा के भय से छोड़ देता है? जब हम नाना प्रकार के रङ्ग बिरंग मनोहर पक्षियों को अपनी मधुर और मन मोहिनी ध्वनियों में गान करते सुनते हैं; जब हम हिमालय पर्वत के नैसर्गिक अनुपम शोभायुक्त दृश्यों को देखते हैं; जब हम पापनाशिनी जाह्नवी की पवित्र लहरों को शरदऋतु के चन्द्रमा की ज्योत्स्ना में किलोल करते देखते हैं; जब हम नवयौवना रूप सौन्दर्य सम्पन्न मृग नयनी स्त्रियों को अपने मधुर स्वरों में गान करते सुनते और देखते है; जब हम नवविवाहित दम्पतियों को प्रेम डोर में बंधे हुये जीवनानन्द में उन्मादित देखते हैं, जब हम बड़े २ नगरों में गगनस्पर्शी कलाकौशल सम्पन्न भवन शिखरों पर दृष्टि डालते हैं जब हम किसी फल फूल उद्यान में जाकर उसकी अनेक सुगंधित विचित्र कुसुमावलियों वरन् उसके नाना प्रकार के प्रफुल्लित वृक्ष और पौधों पर दृष्टिपात करते हैं; जब हम विशाल विद्यालयों में जाकर सरस्वती देवी के अनुपम चमत्कारों को देखते हैं; तो क्या हम कह सकते हैं कि यह संसार एक नितान्त दुःखागार है? कदापि नहीं। क्या कोई ऐसी भी स्त्री है जो प्रसववेदना के डर से सन्तानोत्पत्ति न चाहती हो? क्या कोई ऐसा भी मनुष्य है जो पुत्र के लालन पालन के कष्टों को असहनीय समझ पुत्र रत्न को

न चाहे ? क्या कोई ऐसा विद्यार्थी है जो विद्याभ्यास के दुःखों पर दृष्टि डालकर विद्या का त्याग करदे और अपने जीवन को निःसार बनादे ? क्या धनोपार्जन में भी जो कठिनाइयां और आपत्तियां होती हैं उन पर दृष्टि डाल कर लक्ष्मी प्राप्ति की चेष्टाएं छोड़ दी जांय ? कठोर तप और अनेक शारीरिक कष्ट सहन करने के पश्चात् ईश्वर प्राप्ति का होना संभव है। क्या कोई सन्यासी इन प्रारम्भिक आपत्तियों के भय से इस अनुपम सिद्धि को छोड़ दे ? संसार में दुःख अवश्य है; परन्तु यहां पर सुख का आधिपत्य प्रधान है। सुख की प्राप्ति उन्हीं को होती है जो दुःखों और आपत्तियों का सामना करके उन पर विजय प्राप्त करते हैं और अपने अन्तिम लक्ष्य को प्रारम्भिक बाधाओं और कठिनाइयों के भय से नहीं छोड़ देते हैं। संसार एक रणभूमि है। जो वीर सदाचार का कवच पहरे हुये है, दृढ़ चित्त, पुरुषार्थी और निडर हैं, उन्हीं के हाथ सुख की विजय पताका है आलसी, हीनोत्साही, दुराचारी, कुत्सित मनुष्यों को इसमें सफलता नहीं होती है।

इन दोनों सम्मतियों में कौन सी ठीक है—यह निश्चय करना बड़ा कठिन है। ये दोनों दृष्टियां अत्यन्त प्राचीन काल से चली आई हैं। दोनों हो पक्षों में बहुत कुछ कहा जा सकता है; परन्तु बात तो यह है कि संसार न तो दुःखागार हो है और न सुख का भण्डार ही कहा जा सकता है। सुख और दुःख की स्थिति हमारे बाहर किसी बाह्य पदार्थ में नहीं है! बल्कि हमारे भीतर ही है। इनका उद्गम स्थान हमारा मन है—नकि कोई बाहरवाली जड़ वस्तु। धुरन्धर दार्शनिक

विद्वानों का ऐसा मत है कि मन के अतिरिक्त और कोई बाह्य वस्तु ही नहीं है। यह समस्त दृश्यमान संसार मन के भीतर ही है, बाहर नहीं।

संसार रचना के तीन अन्तिम सूत्र हैं, अर्थात् काल, आकाश और कार्य-कारण शृङ्खला। इन तीनों के आधार पर ही सब संसार की रचना है; और यह तीनों हमारे मन के भीतर हैं-बाहर नहीं। यह सम्मति भूमण्डल के सभी बड़े २ तत्ववेत्ता और आचार्यों की है। भारत-वर्ष के महर्षियों ने तो इस सिद्धान्त को खूब ही पुष्ट किया है।

इस सिद्धान्त का महत्व उपनिषदों में भली भांति दिखाया गया है; जैसा कि निम्न लिखित वाक्यों से विदित होगा :—

१

मन एव जगत् सर्वं मन एव महारिपुः।
मन एवहि संसारो मन एव जगत्त्रयम ॥

२

मन एव महद् दुःखं मन एव ज्वरादिकम्
मन एवहि कालश्च मन एव मलं तथा ॥

३

मन एवहि संकल्पो मन एव हि जीवकः।
मन एवहि चित्तं च मनोऽहङ्कार एव च ॥

४

मन एव महद्बन्धं मनोऽन्तः करणं चतत्।
मन एव हि भूमिश्च मन एव हि तोयकम् ॥

५

मन एव हि तेजश्च मन एव मरुन्महान्।
मन एव हि चाकाशं मन एवहि शब्दकम् ॥

६

स्पर्शं रूपं रसं गन्धं कोशः पञ्चमनाभवाः ।
जाग्रत्स्वप्न सुषुप्त्यादि मनोमय मितीरितम ॥

७

दिक् पाला वसवो रुद्रा आदित्याश्च मनोभवाः ।
दृश्यं अपड़ं द्वन्द जात मज्ञानं मान संस्मृतम ॥

इन उद्धृत वाक्यों से स्पष्ट है कि जो कुछ वस्तु है वह मन के भीतर ही है-मन के बाहर नहीं। इस मत को पाश्चात्य विद्वानों ने Idealism के नाम से पुकारा है. परन्तु पाश्चात्य विद्वानों का Idealism इतना गम्भीर और स्पष्ट नहीं है जितना कि हमारे ऋषि महर्षियों का। उदाहरणतः उपरोक्त उपनिषद्वाक्यों को देखो।

सारांश यह है कि सुख दुःख मन के बाहर नहीं है बल्कि वे हार्दिक भाव हैं, जिनका उद्गम और लय केन्द्र हमारा,मन हो है। एक प्रेमी अपनी प्रेमिणी के सुख के लिये विकट संकट झेलता और अनेक दुःखों का सामना करता है. परन्तु वह उन्हे दुःख नहीं समझता। इन दोनों व्यक्तियों के मन उच्च और उदार भावों मे अर्थात् अगाढ़ प्रेम और देश भक्ति से परिपूर्ण हैं। इस कारण जो दूसरों को दुःख मालूम होता है वह इन्हे नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि सुख दुःख कोई स्वयं सत्ता रखने वाले पदार्थ नहीं हैं, बल्कि हमारे मन के भाव हैं. और भावों का अच्छा बुरा होना हमारे अधिकार के अन्तरगत है। हम अपने इस अधिकार को बहुत कम काम में लाते हैं। यदि यथोचित रीति से हम अपनी शक्ति को काम में लावें, तो हम दुःख के भावों का प्रवेश मनमें रोक सकते हैं. और सुख की मात्रा चाहे जितनी अधिक कर सकते

हैं। अपने आत्म-बल के प्रभाव को नहीं जानते हुये हम अनेक दुःखों के कारण बन जाते हैं और यह समझने लगते हैं कि ये दुःख कहीं बाहर से आये हैं और उनका रोकना अथवा दूर करना हमारी शक्ति से बाहर है।

चित्त की वृत्तियों को रोकना योग शास्त्र का पहला उपदेश है, और इसका फल पूर्ण आनन्द प्राप्ति है। श्री कृष्ण भगवान ने भी श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि दुःख का कारण हमारी चित्त वृत्तियों का प्रभाव ही है। इनको ज्ञानी अपने आत्म-बल से रोक सकता है। दुःख का उद्गम स्थान इन्द्रियों के विषयों पर ध्यान देना है। इन पर ध्यान देने से उनके साथ सङ्ग उत्पन्न हो जाता है, सङ्ग से काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध, और क्रोध से मोह। मोह स्मृतिविभ्रम का कारण है, जिससे बुद्धि का नाश होता है। बुद्धि नाश होने से सर्व नाश हो जाता है। जो मनुष्य आत्म-बल द्वारा इन्द्रियों से राग द्वेष दूर करके उनके विषयों को भोगता है वह शान्ति को प्राप्त करता है। इस शान्ति में सब दुःखों का नाश है। इसे प्राप्त करने वाला प्रसन्न चित्त होकर स्थिर बुद्धि हो जाता है। यही भाव गीता के निम्न लिखित श्लोकों का है :—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः॥
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धि नाशो बुद्धि नाशात्प्रणश्यति॥

राग द्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

प्रसादे सर्वे दुखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसोह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

वास्तव में सब दुःखों का कारण हमारी चित्तवृत्तियों का नहीं रोकना है। यदि पूर्ण ज्ञान की दृष्टि से देखा जाय, तो हमारी आत्मा अव्यय अनन्त और शुद्ध विज्ञान विग्रह है। उसे सुख दुःख कुछ नहीं होता है। हमारा चित्त पिशाच के सदृश भ्रमण करता रहता है। यदि हम राग द्वेष को त्याग कर आत्मा की अभिन्नता को देखने लगें, तो हमें परम सुख की प्राप्ति हो जायेगी।

अहमव्ययोऽनन्त शुद्ध विज्ञान विग्रह ।
सुखं दुःखं न जानामि कथं कस्यापि वर्तते ॥

अहो चित्तं कथं भ्रान्तं प्रधावसि पिशाचवत् ।
अभिन्नं पश्य चात्मानं रागत्यागात्सुखीभव ॥

लाला गुलाब राय, एम. ए. एल एल बी. की **'फिर निराशा क्यों'** नामक प्रस्तुत पुस्तक उच्च दार्शनिक और नैतिक विचारों से परिपूर्ण है। लाला साहब एक उत्कृष्ट दार्शनिक विद्वान हैं। इनकी प्रस्तुत पुस्तक के विचार पूर्वोक्त संसार विषयक दो सम्मतियों में पहली से नहीं मिलते हैं, बल्कि दूसरी से और उन वाक्यों से जो उस पर व्याख्या रूप से कहे गये हैं। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि इन विचारों के अनुसार संसार एक नितान्त दुःखागार नहीं है, बल्कि उसमें दुःख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक है, और सुख दुःख की स्थिति बाह्य संसार में नहीं है, किन्तु हमारे मन के भीतर है। यह हमारे अधिकार में है कि हम दुःख की मात्रा हटा कर सुख आनन्द की वृद्धि करें।

इस जगह पुस्तक की विशेषता यह है कि इसके लेखक महाशय ने मनुष्य की अपूर्णता को उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि और विकाश का साधक माना है। इस दृष्टि से अपूर्णता अनंतता और पूर्णता का पर्याय बन जाती है। इस प्रकार मनुष्य की दीन हीन दशा निराशा का विषय नहीं रहती। यह वर्तमान दशा मनुष्य की अन्तिम दशा नहीं। मनुष्य ब्रह्म का अंश होने के कारण अपनी वर्तमान दशा को प्रतीत करता जा रहा है। जब तक मनुष्य अपनी वास्तविक स्थिति को नहीं समझता तब ही तक वह नैराश्य के सागर में गोता खाता रहता है। ग्रन्थकार ने मनुष्य जाति की उच्च स्थिति को बतला कर अपने पाठकों के हृदय में आशा के बीज बोए हैं। यह आशा केवल सांसारिक और सामाजिक विषयों के प्रति नहीं है। मनुष्य की बुद्धि को प्रधानता देकर अध्यात्मिक विषयों की बहुत सी उलझनों के सुलझ जाने की भी आशा दिलाई गई है।

लाला साहब की यह पुस्तक अपने ढंग की निराली ही है। हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार के बहुत कम ग्रन्थ हैं बल्कि यह कहना कि उनका एक तरह से अभाव है, अत्युक्ति नहीं है। लाला साहब ने इस पुस्तक को लिख कर हिन्दी-साहित्य-भाण्डार की वृद्धि ही नहीं की है, वरन् संसार का बड़ा उपकार किया है, जिसके लिए हम सभी उनके कृतज्ञ हैं।

जो पुस्तक निरुत्साही, निराशित, पुरुषार्थ हीन, मनुष्यों के हृदय में आत्म-गौरव-ज्ञान की जागृति करे, जो उनके शिथिल शरीरों में नवीन-जीवन-शक्ति का सञ्चार करे, जो विषादित मनों में आशा की कली प्रस्फुटित करके मनुष्यों को पुरुषार्थ करने के लिए प्रोत्साहित करे

जो मनुष्यों को अपने कर्तव्यकार्यों में कटिबद्ध होने की उत्तेजना दे और अनिवार्य आपत्तियों और कठिनाइयों का प्रसन्नता पूर्वक सामना करने को उद्यत करे, जो मनुष्यों को दुःख और क्लेशों की तुच्छता बता कर उनके सुख और आनन्द की मात्रा की वृद्धि करे; वह पुस्तक निःसन्देह परमोपयोगी है, और उसके लेखक का परिश्रम सफल ही नहीं है बल्कि अति सराहनीय और स्तुत्य है। आशा है कि इस पुस्तक का सर्व साधारण में यथोचित आदर होगा, जिससे कि योग्य लेखक इस प्रकार के अन्य ग्रन्थ लिखने को प्रोत्साहित हों।

धौलपुर
१५—४—१९१८

कन्नोमल, एम. ए,

आशा

अहो देवि आशे ! प्रशंसा तिहारी
सकै कै यथावत् न जिह्वा हमारी।
महामण्डल, व्योम, पाताल माहीं,
कहां शक्ति न व्याप्त तेरी सदा ही ॥

卐 卐 卐

कलानाथ तेरी कृपा दृष्टि पाई,
कला क्षीन ह्वै नित्य देवै दिखाई।
ग्रहग्रस्त तेजोनिधी सूर्य्य, सोई,
प्रकाशै प्रभा को नवाधीन होई ॥

卐 卐 卐

बिना पैर के पंगु पाथोधि पारा,
लगौ काहे मैं लाँघि ऊंचे पहारा।
जहां जो चहै जाय, नाना प्रकारा,
बिलोकै छटा, पाय तेरो सहारा ॥

卐 卐 卐

महा दुःख में, शोक में, रोग माहीं
विपत्काल में, कालहू में सदा ही

फिर निराशा क्यों?

सबै लोग आशे! सुसत्ता तिहारी
गत प्राणवत् त्वद्विना प्राण धारी ॥

卐 卐 卐 卐

तुही मोहिनी, तूहि मायाविनी है,
तिहुंलोक की तूहि सञ्जीवनी है।

रहै तू न जो, विश्व-जात-प्रसारा
बनै दण्ड में दण्डकारण्य सारा ॥

—पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी।
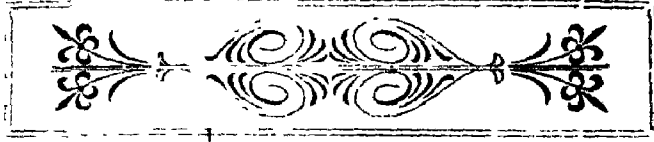
लेखक का वक्तव्य

'नास्तिचात्म समं बलम्

Our first duty is not to hate ourselves; because to advance, we must have faith in ourselves first, and then in God. He who has no faith in himself can never have faith in God.

—*Swami Vivekanand.*

र्सी भाषा में एक लोकोक्ति है कि "तस्नीफरा मुसन्निफ नेको कुनद ब्याँ" अर्थात् अपने लिखे हुए को लेखक ही भली भाँति बता सकता है। इसी कथन के आधार पर, ऐसे उत्तम प्राक्कथन के वर्तमान होते हुए भी कागज़ और स्याही की तेज़ी का विचार न कर, मैंने इस पुस्तक में एक और भूमिका जोड़ देने का साहस किया है।

फिर निराशा क्यों?

यदि कोई संक्षेपता-प्रिय उतावले पाठक मुझ से एक शब्द में इस पुस्तक का सारांश पूछना चाहें तो मुझे उनके उत्तर में कहना पड़ेगा कि वह शब्द 'आत्मगौरव' है।

आत्मगौरव से पाठकगण शायद कुछ और न समझ जावें इस कारण आत्मगौरव की थोड़ी सी व्याख्या कर देना आवश्यक है। आत्मगौरव वृथाभिमान नहीं है और न यह ईश्वर से स्वाधीन होना ही है। अपनी शक्तियों और सम्भावनाओं को यथावत् जानकर अपने में विश्वास रखना ही आत्मगौरव है। आत्मगौरव ही पुरुषार्थ का मूल है और बिना पुरुषार्थ के किसी प्रकार की उन्नति की सम्भावना नहीं है।

"नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।

आत्मगौरव की इस स्थान पर विशेष व्याख्या करना उचित न होगा। भूमिका ही पुस्तक बन जायगी। और मुझे पुनरुक्ति और समय के वृथा व्यय के लिये कोई बहाना भी न मिलेगा किन्तु दो एक सम्भावित आक्षेपों का उत्तर देना बहुत से झगड़ों को बचा देगा और पुस्तक के प्रतिपाद्य विषय पर भी एक नई झलक पड़ जायगी।

इस पुस्तक को पढ़कर कुछ लोग यह अवश्य कहेंगे कि आत्मबल और पुरुषार्थ की डींग मारने से क्या होता है। कितने ही प्रयत्न निष्फल होते हैं और कितनी ही आशाओं पर पानी पड़ जाता है फिर मनुष्य का गौरव कहां? । ठीक है! किन्तु हमारा यह तो कहना नहीं कि मनुष्य सब ही कुछ कर सकता है। मनुष्य प्राकृतिक नियमों को नहीं बदल सकता। जो प्रकृति के नियम हैं

वह अटल हैं। किन्तु उन नियमों को समझ कर मनुष्य उनसे अधिक लाभ अवश्य उठा सकता है। प्रवाह के प्रतिकूल जाना कठिन है। किन्तु प्रवाह के बल के साथ अपने बल को लगा देने से मनुष्य अपने अभीष्ट को शीघ्र ही प्राप्त कर सकता है। मनुष्य प्रवाह से बाहर नहीं। प्रवाह की गति को क्षिप्र अथवा मंद बनाने में उसका भी हाथ है। यदि वह प्रवाह के प्रतिकूल चलेगा तो उसके बल का वृथा क्षय होगा और प्रवाह की भी गति किसी न किसी अंश में अवरुद्ध हो जावेगी। यदि वह अनुकूल चलेगा तो उसकी भी शक्ति बढ़ेगी और प्रवाह की भी गति का वेग बढ़ जायगा। इसलिये मनुष्य को प्रवाह की गति का झुकाव भली प्रकार समझकर उसके वेग को बढ़ाने का यत्न करना चाहिये। ऐसे करने से उसकी सब आशा-लतायें हरी भरी हो जावेंगी और उसके मनोरथ फलवान होंगे। जो हमारे मनोरथ और इच्छायें ईश्वर की इच्छा के तथा प्राकृतिक नियमों के अनुकूल होतीं हैं उनका पूरा होना किसी प्रकार से असम्भव नहीं किन्तु उसमें भी प्रयत्न करने की शर्त लगी हुई है। प्रयत्न के बिना कार्य्य की सिद्धि नहीं होती। निष्क्रिय लोग भी गति के अवरोधक होते हैं। वह लोग दूसरों की शक्ति का वृथा व्यय कराते हैं। शुभ कामना और सद्सङ्कल्पों का होना अच्छा है। किन्तु प्रयत्न बिना वह सब निष्फल है। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह शुभ कामना वाला होवे और उसके साथ पुरुषार्थी भी बने।

शायद कुछ लोगों का यह भी कहना होगा कि इस पुस्तक में मनुष्यजाति का गौरव बताते हुए मनुष्य की

कमज़ोरियों की भी बड़ाई की गई है। इससे लोगों को पाप में प्रवृत्त होने के लिये और भी उत्तेजना मिलेगी। मेरा कदापि यह अभिप्राय नहीं कि लोग देख भालकर भी खाई में गिरें और न मैं सच्चे साधुवृत्ति लोगों के पुण्य-चरित्रों का तिरस्कार कर पापियों के निन्दनीय कर्मों का आदर करना चाहता हूँ। किन्तु यह अवश्य मानता हूँ कि जो लोग गिरे हुए हैं उनको सहायता देना, उनसे घृणा न करना, और उनके साथ रहकर उनको उठाना मनुष्य का कर्तव्य है। इसके साथ ही साथ जो लोग पाप से बचे हुए हैं उनको इस बात पर अभिमान नहीं करना चाहिये कि वह पापी नहीं। अभिमान करना ही स्वयं एक पाप है। जो लोग अभिमान करते हैं, वह लोग पाप से खाली नहीं हैं। ऐसे अभिमानी लोग दूसरे को निरुत्साह कर देते हैं और उस गिरे हुए मनुष्य के न उठने का कारण बन जाते हैं। स्वयं ही पापियों के दल में मिल कर दलदल में फँस जाते हैं। ऐसे लोगों की अपेक्षा पापी ही भले हैं, जो अभिमान नहीं करते। उनके पास बैठकर सदोत्साह की तरङ्गें उठने लगती हैं। मनुष्य को न तो विषयों में ऐसा लिप्त होना चाहिये कि कर्तव्याकर्त्तव्य की सुधि भूल जावे और न ऐसा कर्त्तव्य-परायण ही बनना चाहिये कि सारे संसार को सिर पर उठा रक्खें और लोगों का कर्तव्य से दिल फेर दें। जो कुछ संसार में है उससे किसी प्रकार की इच्छा न रखते हुए, उसकी शोभा में आनन्दित हो ईश्वर के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करनी उचित है और जहाँ तक हो सके श्रेय को प्रेय बनाने का यत्न करना चाहिये।

कहीं २ पर यह भी कहा जायगा कि प्रयत्न और पुरुषार्थ के भाव इस देश के नहीं। इस देश के लोग संसार को दुखमय मानते आये हैं और इस संसार को सुखमय समझना अपने जातीय भावों के प्रतिकूल जाना है। ऐसा कहना अपने पूर्वजों का तिरस्कार करना है और उनके लिये कृतघ्नता दिखाना है। हमारे देश की रीति-रिवाज और आचार-व्यवहारों में ही हमारे जातीय भावों के तन्तु छिपे हुए हैं। न हमारे यहाँ शैतान ही को मानते हैं कि जो मनुष्य को सदा पाप की ओर घसीटता रहता है और न शोक-सूचक त्यौहार ही है। फिर हिन्दू जाति के लोगों को सर्व-दुखवादी (Pessimist) कहना भूल है। और देखिये, हमारे देश के लोग दुखान्त नाटकों तक को नहीं पसन्द करते थे। हमारे यहां के नाट्यशास्त्र का एक सुविख्यात नियम है कि सब नाटक सुखान्त होना चाहिये। फिर यह सब नाटकों का मूलाधार संसार नाटक किस प्रकार दुखान्त हो सकता है?। लोग कहते हैं कि हमारे देश के लोग भाग्य अथवा अदृष्ट के माननेवाले हैं। माना कि यह भी ठीक है। तो क्या भाग्य के मानने वालों को पुरुषार्थ-हीन होना चाहिये। सच्चे भाग्य के माननेवाले लोग भी दुख को दुख नहीं समझते। उसको वह कर्मगति अथवा हरि की इच्छा कह देते हैं। हरि की इच्छा क्या हमारे अनहित के लिये हो सकती है?। भाग्य का मानने वाला पुरुष भी आशा से ख़ाली नहीं। वह जानता है कि मेरा पिछला भाग्य भी मेरे कर्मों का फल है और अगले भाग्य बनाने के लिये शुभ कर्म करना चाहिये। भाग्य को मानते हुए भी हमारे लिये निराशा

करना वृथा है। असफलता कभी अवश्य होती है। उसमें निरुत्साह न होना चाहिये। वरन् हमको यह विचार करना चाहिये कि जिस मनुष्य में ऐसी शुभ कामनायें, उच्च आशायें और विशाल मनोरथ उत्पन्न हो सकते हैं वह पददलित होने के लिये नहीं। उसकी उच्च आशायें, उसकी उच्च प्रकृति की सूचक हैं और वह अवश्य अपनी प्रकृति के अनुकूल उच्च पद को प्राप्त होगा।

इस पुस्तक में कुछ तत्वज्ञान-सम्बन्धी विचार भी हैं उनके यहां पर समर्थन करने में भूमिका का आकार पुस्तक के परिमाण से भी बढ़ जावेगा। विज्ञ पाठक स्वयं ही अपने स्वतन्त्र विचार द्वारा इन सिद्धान्तों का खण्डन मण्डन कर लेंगे। मैं विवेक पूर्ण पाठकों की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं डालना चाहता। इस स्वतन्त्रता के कारण शायद मेरा भी कुछ लाभ हो जावेगा। इसी आशा से मैं इस पुस्तक को अपने पाठकों के हाथ में सौंपता हूँ।

मैनपुरी
चैत्र. शु १. १९७५

गुलाबराय।

फिर निराशा क्यों ?

"It is better to be a dissatisfied Socrates than to be a satisfied pig."

'If water chokes what shall we drink.'

"जिन ढूंढ़ा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूंढन गई रही किनारे बैठ॥"

—'कबीर'

लोग कहते हैं 'समझने वाले को मौत है'। हाँ, सच है। जो आँखें बन्द किये बैठे रहते हैं, उनके चित्त में घृणोत्पादक दृश्य ग्लानि पैदा नहीं करते, किन्तु जो लोग देखते हैं, उन्हें हर्ष होता है और विषाद भी। जो लोग घृणित पदार्थों के लिये नेत्र मूँदे बैठे हुए हैं वे लोग मनोरम दृश्यों के दर्शन-लाभ से भी वञ्चित हैं।

जानने से दुःख है और सुख भी। बाबा आदम ने ज्ञान का फल खाया। यही उनके पतन का कारण हुआ, किन्तु यही उनके उत्थान का भी कारण है। अगर वे बुराई भलाई न जानते तो वे अपने पैर तले की मिट्टी से कभी अच्छे न होते। यह सब ठीक है। जानने से जो मानसिक वेदना होती है सो जानने वाले ही जानते हैं।

'जाके पाँव न जाय बिवाई। सो क्या जाने पीर पराई।

विचार करते ही संशय के भँवर में गोते खाने पड़ते हैं; निकलना कठिन पड़ जाता है, चारों ओर हाथ पैर पीटते २ हाथ और पैर थक जाते हैं, हाँपते २ साँस फूल जाता है—दम घुट जाता है, अङ्गप्रत्यङ्ग एकदम शिथिल हो जाते हैं किन्तु इतने पर भी डूब जाने के डरसे हाथ पैर पीटना बन्द नहीं होता। 'जब तक साँस तब तक आस'।

यदि कहीं इस भँवर से निकलने में सफलता भी मिल गई—किनारे पर भी आ पहुंचे तो भी क्या? आगे का मार्ग तो दुर्गम है। कहीं थकेमाँदे मनुष्य ने इसपंकाकुल विकट पथ पर दो चार क़दम भी रक्खे तो दलदल में फँस गया। गाढ़े दलदल में से निकले तो भी आपत्तियों का अन्त न हुआ। 'छिद्रेषु अनर्थाः वहुली भवंति'। आगे बढ़े तो अज्ञान की कठोर भित्ति से सिर टकराया। उसके सामने आकर नैराश्य और असहायता में सहारा लेना पड़ता है। फिर नाना प्रकार की अनर्गल और

अमोघ कल्पनाएँ कर अपने मन का समझौता करना होता है।

कोई २ तो ऐसी दुर्दशा देखकर कहते हैं 'भाई ! यहाँ न आते तो ही अच्छे रहते। विचार-तरंगिणी में तैर कर क्या लाभ उठाया—उलटी हानि ही हुई। अब हमको अपनी पूर्वस्थिति पर भी पहुँचना कठिन है। नदी के उस पार ही क्या बुरे थे। अज्ञान की बराबर कहीं आनन्द नहीं।

कोई यह कहने लगते हैं—नहीं, नहीं, अच्छा हुआ जो यहाँ तक आये। यह तो जान लिया कि सूची-अभेद्य प्रगाढ़-अन्धकार के अतिरिक्त आगे कुछ भी नहीं। जो कुछ है सो दीवार के इसी पार। आगे तो शून्य ही शून्य है। जितना जाना वही सत्—बाक़ी सब असत् है।

कुछ ऐसे भी हैं जो यह कहते हैं— भाई ! ठीक है, तैरने में कष्ट अवश्य हुआ, किन्तु इस से हमारे अवयव पुष्ट ही हो गये। हमारी शक्ति बढ़ गई। स्यात् कदाचित् फिर भँवर में पड़ जावें तो अब डूबेंगे नहीं। अच्छा हुआ जो स्वयं ही जल में घुस पड़े। शायद बढ़ता हुआ जल हम को हमारे स्थान से गिरा देता तब तो अपने को सँभालना ही कठिन हो जाता। यह सब सही, पर, यह न मानेंगे कि आगे कुछ है ही नहीं। जो कुछ दृश्य है वो सब दीवार के उसही पार है। इसपार तो केवल धोखा ही धोखा है। यह आलोकित भाग कुछ नहीं।

कोई कहते हैं—हाँ, बात तो ठीक है। किन्तु सीमा अभेद्य है। उसकी दूसरी ओर कुछ है [illegible] नहीं

सत्य भी है, किन्तु यह नहीं मालूम कि वह क्या है और कैसा है। हमारे पास कोई एक्सरेज़ (X Rays) नहीं जो अज्ञान की दीवार को भेदकर पार कर सके और जिन के द्वारा हम उस पार की वस्तु देख सकें। और फिर सच तो यह है कि देखते तो हम अपनी बुद्धि के चश्मे से ही हमारा ज्ञान सत्य ही कैसे हो सकता है?। एक्सरेज़ के होने ही से क्या लाभ?।

संशय के भँवर में पड़ने ही के भय से मानसी गंगा के पुण्यसलिल में स्नान न करना कायरता है। यही नहीं, वरन् अपने नैसर्गिक अधिकारों को खो बैठना है— भीषण आत्म-हत्या है।

"मैं कुछ नहीं जानता"—केवल इतनाही जान लेने के कारण सुकरात जानकारों में श्रेष्ठ गिना गया। यह ठीक है, किन्तु इससे यह सिद्ध होता कि दीवार के आगे कुछ भी नहीं। इससे केवल यही सिद्ध होता है कि 'खोज करना चाहिये'। पुनः यह कि जिन बातों को हम ठीक समझते हैं उन पर बिना विचार किये हमको उन्हें निश्चित विचार कहने का कोई अधिकार नहीं।

यह किस प्रकार हो सकता है कि दीवार के आगे कुछ नहीं। जो स्थान देखा नहीं उसके लिये इसका प्रमाण ही क्या है कि वहाँ पर कुछ भी नहीं। फिर सत्ता की सीमा बाँधने का किसको अधिकार है?।

यह भी कहना युक्तिसङ्गत नहीं कि जो कुछ है सो दीवार के उस पार ही है। इस ओर को सभी बातें भ्रम-मूलक हैं। क्या हम और हमारे विचार सत्ता की सीमा

से बाहर हैं ?। यदि ऐसा है तो यह कहना होगा कि सत्ता के बाहर भी कोई ऐसी वस्तु है जो सत्य है, नहीं तो हमें अपने विचार असत् मानने पड़ेंगे। फिर न तो वह सच ही रहेंगे न झूठ ही। मूल के नाश होने पर वृक्ष, पत्र और फल सभी का नाश हो जाता है।

इसका भी क्या प्रमाण है कि 'हमारी बुद्धि का चश्मा' ठीक नहीं। बुद्धि को चश्मा कहना उसको जान बूझ कर दूषित ठहराना है। बुद्धि चश्मा नहीं—मानसिक नेत्र है। यदि नेत्र का काम देखने का नहीं तो फिर वह नेत्र हो नहीं। और फिर उसके अस्तित्व से ही क्या ? यदि हमारी बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान भ्रमात्मक है तो हमको अपने ज्ञान को भ्रममूलक ठहराने ही का क्या अधिकार? क्या हमारा एवं भूतज्ञान निर्दोष ही रहेगा ?।

सत्ता के महासागर से कुछ भी बाहर नहीं। हमारी बुद्धि भी दूषित नहीं। हम अपनी परिमितता के कारण सब न देख सकें, किन्तु जो कुछ हम देखते हैं मिथ्या नहीं। क्या भाग पूर्ण से भिन्न है ? एक चुल्लू भर जल से सारे सागर की जल राशि की परीक्षा की जाती है।

दृश्यपदार्थ को छोड़कर वास्तविक सत्ता का क्या और कोई रूप है। वास्तविक सत्ता कोई नवोढ़ा स्त्री की भाँति नहीं, जो अपना दिव्य मुख को सदा भ्रमरूप दृश्यों के सघन अवगुण्ठन में छिपाये रखना चाहती हो। वह अपना मुख छिपाये तो किससे ?। क्या उससे कोई बाहर है ?। उसका द्युतिमान आनन सदा चन्द्र और सूर्य्य की अलौकिक प्रभा में दिखाई पड़ता रहता है।

हाँ, यदि मान भी लिया कि सब कुछ भ्रम ही भ्रम है, फिर भ्रम से लाभ ही क्या ?। थोड़ा जानकर बहुत जानना सम्भव है। किन्तु भ्रम में पड़कर निकलना कठिन है। यदि वास्तविक सत्ता अज्ञेय है तो उसके बिना जाने हुए अपने को भ्रम में बताने के लिये क्या प्रमाण। और ऐसे भ्रम की दशा में प्रमाणों की सत्यता का ही क्या प्रमाण ?। हमारा ज्ञान परिमित हो पर भ्रममूलक नहीं। दीवार भी अभेद्य नहीं। ज्ञान की सीमा दिन रात बढ़ती रहती है। आलोक की वृद्धि हो और अन्धकार का ह्रास न हो ? 'सूर परकाश, तहँ रैन कहाँ पाइये' ज्ञान बढ़े और अविद्या न जावे ?।

फिर निराशा क्यों ?

मनुष्य की मुख्यता।

"The essence of our being, the mystery in us that calls itself "I",—ah, what words have we for such things?—is a breath of Heaven; the Highest Being reveals himself in man."

—CARLYLE.
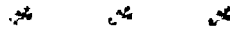
मनुष्य प्रकृति का राजा है'

यह वाक्य मनुष्यों का ही है—इसकी सत्यता का प्रमाण ?, क्या यह 'अपने मुँह मियां मिट्ठू' बनना नहीं ?

हां, यह आत्म-प्रशंसा ही मनुष्य का प्रधान गुण है। इसी के कारण उसको यह राज्याधिकार प्राप्त हुआ है। अपने ऊपर विचार कर लेना यह थोड़ा गुण नहीं। आत्मश्लाघा में आत्मविचार की शक्ति छिपी हुई है। आत्मविचार ही 'मनुष्य की मुख्यता' है। यही उसको संसार का शिरोमणि बनाता है।

अपने ऊपर विचार करना और सारे संसार को भी अपने विचार में उलट पलट डालना बड़ा भारी गुण है सही, किन्तु मनुष्य के विचारों की सत्यता का क्या प्रमाण। क्या मनुष्य के अतिरिक्त और कोई भी जीवधारी उसके कथन की साक्षी भरता है ? : क्या साक्ष्य का न होना दोष नहीं ?

साक्ष्य का न होना मनुष्य के कथन के गौरव को बढ़ाता ही है। साक्ष्य का न होना मनुष्य की श्रेष्ठता का बड़ा भारी साक्षी है। मनुष्य के कथन को प्रमाणित करने के लिए और किसी गवाह की ज़रूरत नहीं। ईश्वर भी अपनी आज्ञाओं को मनुष्य ही के द्वारा प्रकाशित करना चाहता है। मनुष्य ही में ईश्वर की आज्ञा ग्रहण करने की शक्ति है और वही अपने ऊपर शासन कर सकता है।

शुद्ध प्रशान्त चित्त ऋषियों और स्थितप्रज्ञ महात्माओं की वाणी में ईश्वर के ही ज्ञान की झलक होती है। मनुष्य को जो स्फूर्ति द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है वह ईश्वर के निरपेक्ष निर्विकल्प ज्ञान का ही अंश है। मनुष्य की स्फूर्ति ईश्वरीय ज्ञान के प्रकाशित होने का माध्यम है। फिर हम ऐसी महत्व की वस्तु का क्यों तिरस्कार करें।

मनुष्य ही द्वारा सारी सृष्टि मूक से वाचाल होती है। मनुष्य ही सारी सृष्टि का मुख है। "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" क्या ब्राह्मण मनुष्यों में से नहीं ?।

सारी चराचर सत्ता मनुष्य को अपना मुख बना कर आत्मकथा कहती है। आत्मकहानी कहने के लिये

दूसरे साक्षी की आवश्यकता नहीं। जब डाक्टर पूछता है कि आपके पैर में दर्द कैसा है तब पैर का दर्द बतलाने के लिये मुख ही बोलता है। पैर अपना हाल नहीं कहता। हाथ भी मुख की गवाही देने को नहीं आता।

क्या मनुष्य भूल नहीं करता? क्या मनुष्य पाप से बचा हुआ है?। नहीं। मनुष्य भूल अवश्य करता है। किन्तु उसकी भूल भी मतलब से ख़ाली नहीं। भूल ही उसके ज्ञान का मूल है। भूल ही द्वारा छिपी हुई सम्भावनाएँ प्रकाशित होती हैं। भूल का संशोधन होने पर सम्भव निश्चय हो जाता है। कल्पना सिद्धान्त की कोटि में आ जाती है। मनुष्य पाप कर सकता है—यही उसकी मुख्यता है, नहीं तो मनुष्य और पशु में अन्तर ही क्या?। यदि पाप करने की सम्भावना नहीं तो सत्कार्य्य करने में भी कोई महत्व नहीं। हमारे दोष भी हमारे गौरव के कारण हैं।

"फिर निराशा क्यों?"

सत्ता-सागर ।

'जैसा यह जग बना हुआ है वैसा इसको पहचानो
ईश्वर की व्यापकता इसमें सभी ठौर प्यारे जानो।"

'चलोगे सच्चे मन से जो तुम निर्मल नियमों के अनुसार
तो अवश्य प्यारे जानोगे सारा जगत सचाई सार॥'

—"श्रीधर पाठक"

सार के सभी महासागर, जिसकी एक छोटी सी लहर हैं, उसी सत्ता-सागर के हम भी बुद्बुद हैं। हम उस सागर के न भीतर हैं और न बाहर। उसी महासागर के जलकण हैं। जल-बिन्दु जलधि से भिन्न नहीं और सिंधु भी बिन्दु से भिन्न नहीं। बिन्दुओं को छोड़ कर भला सागर कहाँ?।

समस्त दृश्यमान जगत, चराचर सृष्टि, भिन्न २ रुचिवाले मनुष्य, नाना भांति के पशु पक्षी, वन की

लहलहाती लोनी लतिकाएँ, रंग बिरंगे फूल, निर्मल जल के मनोहर झरने, लहराती हुई सुन्दर नदी, स्वच्छ सलिल से सम्पूर्ण झील, ऊँचे ऊँचे गगनचुम्बी शैल-शिखर, घने और बीहड़ जङ्गलों से आच्छादित पर्वत, सघन श्याम सुहावने मेघ तथा अनन्त, शान्त और मनोज्ञनीलाकाश सबके सब एक ही महान सत्ता के अंग प्रत्यंग हैं।

चेतन-संसार अचेतन के ऊपर निर्भर है और अचेतन चेतन के ऊपर। किन्तु दोनों ही एक ही सत्ता के अङ्ग हैं। और, वह सत्ता भी इनसे भिन्न नहीं अथवा न अचेतन चेतन ही से भिन्न है। क्या अचेतन-संसार जिसकी गोद में चेतन संसार पाला पोसा गया और हृष्ट-पुष्ट हुआ, चेतन से भिन्न हो सकता है?

चेतन और अचेतन एक दूसरे के सहायक हैं। यही उनकी एकता का मूल है। इनको प्रतिकूल कहना भूल है। दो प्रतिकूल पदार्थों में भला सहकारिता कैसा?।

जड़ न तो चेतन का कर्त्ता है और न चेतन जड़ का। दोनों एक दूसरे के रूपान्तर हैं। जड़ चेतन में कुछ भेद नहीं। भेद केवल धर्म का ही है। धर्म भी ऐसे नहीं जो एक दूसरे के प्रतिकूल हों। सहयोगिता ही उनका लक्षण है। वे एक दूसरे की पूर्ति करते हैं। स्त्री-पुरुष की भाँति एक दूसरे के (परस्पर सहायक हैं। दो होते हुए भी एक हैं। दोनों ही मिल कर सत्ता का पूर्णाङ्ग बनाते हैं।

इस सत्ता-सागर में मनुष्य की क्या स्थिति है?

मनुष्य ही द्वारा जड़ और चेतन की पूरी सहकारिता प्रकट होती है। खण्ड में पिण्ड का प्रतिबिम्ब है। मनुष्य ही सत्ता-सागर का छोटा सा चित्र है।

मनुष्य क्या इस सत्ता का अंतिम फल है ? क्या इससे बढ़ कर कुछ और नहीं ? । वह महान पुरुष देवों का देव है जिसके तेज से फल और वृक्ष दोनों ही पुष्टि को प्राप्त हो रहे हैं—दोनों ही जिसके अङ्ग हैं, इस सत्ता का संचालक और बुद्धिबल है। उसी के बुद्धिबल के सहारे हमारा भी बुद्धिबल काम करता है। हम उसी से अपना आदर्श पाते हैं। पूर्ण की सत्ता के कारण अपूर्ण के पूर्ण होने की आशा है। नहीं तो अपूर्ण में पूर्ण का भाव कहाँ से आया ? ।

मनुष्य में जड़ और चेतन की एकता है। वह अपूर्ण तो है अतः पूर्णता की ओर दौड़ रहा है। उसी में ही पूर्णता की झलक मिलती है। उसी के अस्तित्व से जड़ की जड़ता और चेतन की चेतनता का आभास होता है। मनुष्य के ज्ञान से ही इस बात का अनुमान होता है कि यह विचित्र संसार प्रत्यक्ष मात्र से सीमा-बद्ध नहीं। वरन् इसके आगे भी कुछ है।

मनुष्य की आशायें और उच्च आदर्श उसको परिमित की ओर से अपरिमित की ओर मोड़ ले जाते हैं। इन्हीं के द्वारा हमको दीवार के उस पार की झलक मिलती है।

यदि हम पीछे की ओर देखते हैं तो सहस्रों वर्ष की सञ्चित सम्पत्ति हमारे लिये रक्खी हुई है ; केवल उठा

लेने भर की देर है। यदि आगे की ओर दृष्टि डालते हैं तो अनेकानेक सम्भावनाएँ हमारे लिये विद्यमान हैं। अपने शरीर द्वारा सारे जड़ जगत से हमारा सम्बन्ध है। हमारे ज्ञान और आदर्शों द्वारा पूर्ण अखंड परमात्मा से हमारा योग है। इस संसार में हमारी स्थिति अपूर्व है। समूची चराचर सृष्टि में सर्वापेक्षा पूज्यतम जो पदार्थ है उससे हमारा सम्बन्ध है।

फिर निराशा क्यों?
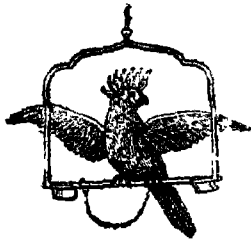
समष्टि व्यष्टि ।

यदाभूत प्रथग्भावमेकस्थ मनुपश्यति
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।

श्रीमद्भगवद्गीता १३।२७ ॥

Kabir says: 'As you never may find the forest if you ignore the tree so He may never be found in abstractions'.

Kabir's Poems, translated by
—SIR RABINDARA NATH TAGORE.

मैं और यह साक्षात् दृष्टिगोचर संसार एक ही हूँ ? । क्या मैं और मेरा पड़ोसी दो व्यक्ति नहीं ? उसका धन मेरे लिये वर्जित है और मेरा धन भी उसे प्राप्त नहीं हो सकता । मेरे विचार और उसके विचारों में भेद है । हम दोनों का अनुभव एक नहीं हो सकता । क्या फिर भी हम और वह एक हैं ?

समष्टि व्यष्टि।

हम और यह दृश्यमान जगत एक नहीं हो सकते। क्यों? क्या इस संसार में हमारा पालन पोषण नहीं हुआ। क्या इस संसार की पृथ्वी से उत्पन्न अन्न हमारे शरीर को पुष्ट नहीं बनाता? हम केवल शरीरी नहीं—हम ज्ञान स्वरूप हैं। ज्ञान ही बिना ज्ञेय के किस प्रकार हो सकता है। भला बिना कार्य के कर्ता कहाँ?।

समूचे संसार की बात जाने दीजिए। हम और हमारे पड़ोसी एक नहीं हो सकते। हमारे शरीर और हमारे विचार भिन्न २ हैं।

क्या मेरा व्यक्तित्व मेरे शरीर ही में है?। नहीं, मेरा शरीर पञ्चभूतों से पृथक् नहीं। क्या मेरा शरीर मेरे माता पिता के रजोवीर्य्य से उत्पन्न नहीं हुआ?। उनका भी शरीर आकाश से नहीं आता। उसकी भी उत्पत्ति इसी प्रकार हुई। इस शृङ्खला में पड़ कर मेरे शरीर का व्यक्तित्व कहाँ रहा। मेरे पड़ोसी के भी शरीर का व्यक्तित्व कहाँ। क्या पीछे हटते २ हम दोनों के शरीर एक ही मूल-शृङ्खला में बद्ध न हो जावेंगे?। क्या कोई आदि पुरुष हमारे शरीर को उत्पन्न करने वाला नहीं?।

क्या हमारे विचारों की भिन्नता हमारे पार्थक्य का कारण है? क्या हमारे विचारों का एक कोई मूल कारण नहीं?। क्या मेरे विचार मेरे ही हैं?। क्या मैंने अपने विचारों को अपने समाज से नहीं पाया है?। क्या हमें और हमारे पड़ोसी को एक ही प्रकृति की पाठशाला में शिक्षा नहीं मिली है?। क्या हमारी और हमारे पड़ोसी की भाषा एक नहीं?। यदि हम दोनों मनुष्य-समाज से बाहर अलग २ रख दिये जाते तो हमारे विचार कहाँ से आते।

फिर क्या भेद की स्थिति संसार में नहीं ? भेद क्या भ्रम है ?। नहीं। यदि भेद भ्रम है तो यह संसार नीरस है। ऐसा कहने में इसकी स्थिति ही असम्भव हो जायगी। भेद के बिना एकता ही भ्रम है। भेद नहीं तो भला एकता का ज्ञान किस प्रकार होना सम्भव है।

भेद ही द्वारा ब्रह्म भी अपनी वास्तविक सत्ता को प्रकट करता है। 'एकोऽहम् बहुस्यामि'। यही नियम सारी सृष्टि में वर्तमान है। एक के अनेक और अनेक होकर भी एक होना यही उन्नति का मूलमंत्र है।

भला, एक की अनेकता किस प्रकार ? और अनेक होकर भी उनकी एकता कहाँ ?। सारी सृष्टि का क्रम एक की अनेकता ही से चलता रहता है। 'एकोऽहम् बहुस्यामि' यह संकल्प प्रतिक्षण दुहराया जाता है। विचार में पार्थक्य होना कठिन नहीं। पार्थक्य कहीं बाहर से नहीं आता। क्या स्वप्न में एक ही व्यक्ति ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय में विभक्त नहीं हो जाता ? क्या मेरे दो अहंकार नहीं हो जाते ?

अहंकार ही भेद का मूल है। किन्तु यह मुझ से बाहर नहीं। इसी भेद के कारण ज्ञान और विचारों में भी भेद हो जाता है। इस भेद का अन्त नहीं। शाखा प्रशाखाएँ बढ़ती जाती हैं। विभागों के भी विभाग होते जाते हैं, किन्तु प्रत्येक विभाग में पूर्णता की झलक बनी रहती है। इसी में भागों की एकता की आशा है। भाग जब तक अपने आप को पूर्ण के साथ सम्बन्ध में नहीं देखता तब ही तक भाग है—यही तो माया है। परिमितता ही को माया कहते हैं। भाग जब अपने आप को

पूर्ण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध में देख लेता है तब सम्पूर्ण हो जाता है। यह सम्बन्ध क्रिया ही में प्रत्यक्ष होता है। पूर्ण का भाग भी पूर्ण होता है।

भेद और अहङ्कार संसार की स्थिति के लिये आवश्यक है। भेद ही संसार को सरस बनाता है। भेद से क्रिया की उत्पत्ति होती है। क्रिया में भेद की वृद्धि और लय दोनों ही के मूल हे। अहङ्कार जब भेद की यथोचित सीमा को उल्लंघन कर जाता है तब ही निन्द्-नीय कहलाता है। अहङ्कार रखते हुए भी हम अपने को पूर्ण के सम्बन्ध में देख सकते हैं। व्यक्ति होते हुए भी हम और और व्यक्तियों से मेल कर सकते हैं--यही व्यक्ति और समष्टि की एकता है, यही बिन्दु का समुद्र हो जाना है। हम अपने व्यक्तित्व को रखते हुए भी एक महान व्यक्ति के व्यक्तित्व में सम्मिलित रह सकते हैं। हमारे रुधिर के कीटाणु पृथक् २ होते हुए भी हमारे शरीर के व्यक्तित्व में एक हो जाते हैं। हमारे भिन्न २ विचार हमारे अहङ्कार के व्यक्तित्व के अन्तर्गत हैं। व्यष्टि रूप से भिन्न २ होते हुए भी समष्टि रूप से एक है। बिना समष्टि के व्यष्टि का अस्तित्व सम्भव नहीं और व्यष्टि से बाहर समष्टि कोई पदार्थ नहीं। समष्टि व्यष्टि के समूह से अधिक हो तो हो, किन्तु उससे भिन्न नहीं। वृक्ष वन से अलग नहीं और जो वन को वृक्षों से बाहर ढूँढ़ता है उसे वन प्राप्त नहीं हो सकता; अनेक होते हुए भी एक हैं। हमारे भेद में ही हमारी एकता की जड़ है।

फिर निराशा क्यों ?

हमारा कर्त्तव्य
और
हमारी कठिनाइयाँ

Act act in the living present
Heart within and God o'erhead.
—LONGFELLOW.

हिम्मतए मरदाँ मदद्दए ख़ुदा।

यह सत्ता सागर एक रस नहीं। इसमें भेद अभेद दोनों ही का संयोग है। यह संसार चित्र विचित्र है, किन्तु, यह एक ओर जाने का यत्न करता है। यही इसकी एक रसता है। चित्रता ही इसका गौरव है। इस विलक्षण संसार को मनुष्य साक्षात् नेत्र रूप होकर देखता है। देख २ कर सुखित भी होता है और दुखित भी।

हमारा कर्त्तव्य।

इस सुविस्तृत सागर में एक ही प्रकार की लहरें नहीं उठतीं। कुछ लहरें प्रवाह अथवा धारा के अनुकूल हैं और कुछ प्रतिकूल भी। प्रतिकूल तरङ्ग स्रोत के वेग को रोक नहीं सकतीं, किन्तु उसको मन्द अवश्य कर देती हैं।

हम लोग भी इन्हीं लहरों में से हैं। हम लोग लहरों के ऊपर के तिनके नहीं वरन् स्वयमेव लहर ही हैं। सागर का प्रवाह निश्चित करने में हमारा भी कुछ हाथ है। भेद रहते हुए भी अनुकूलता और सामञ्जस्य स्थापित करना हमारा काम है। सब लहरों को प्रवाह के अनुकूल बना कर प्रवाह की गति को निश्चित करना हमारे कर्त्तव्य से बाहर नहीं। यही है–क्रिया द्वारा भाग की पूर्ण से एकता करना। हमारे कर्त्तव्य ही में हमारी क्रिया और हमारे ज्ञान की भी एकता है।

सत्ता सागर की गति को ठीक ओर चलाने में योग देना हमारा परम पुनीत कर्त्तव्य है। इसके द्वारा हम अपनी तथा सारे संसार की क्रियाओं को ईश्वर की इच्छा के अनकूल बनाकर मर्त्यलोक को स्वर्गलोक में परिणत कर सकते हैं।

संसार में सामञ्जस्य स्थापित करनेवाली क्रिया की उत्पत्ति कहाँ से ?। प्रेम से इस क्रिया का जन्म होता है। फिर प्रेम कहाँ से आया ?। समग्र संसार को शोभा सम्पन्न और आत्मरूप करके मानने से प्रेम आविर्भूत हुआ। समस्त संसार को शोभामय मानना ही सौन्दर्योपासना है। इसी से विश्वप्रेम का जन्म है और प्रेम ही सारी क्रियाओं की सञ्चालन-शक्ति है।

प्रेम ही सञ्चालन-शक्ति-सम्पन्न है सही पर क्या हम इस महान कार्य्य को सम्पादन करने में समर्थ हैं ?। क्या सुन्दरता के साथ ही साथ कुरूपता नहीं लगी हुई है ?, फिर सौन्दर्य्योपासना कहाँ ?

क्या हम इस संसार के प्रवाह को ठीक २ रीति से चला सकते हैं ?। क्या हम अपूर्ण नहीं ?। क्या हम पाप-ताप-तप्त नहीं ?। क्या दुःखरूपी प्रतिबाधक शिला इस सागर-तल में नहीं ?।

इस कर्मयोग से क्या लाभ ?। क्या इससे हमारी परिमितता का नाश हो जावेगा ?। फिर हमारा नेता कौन ?।

यह सब कठिनाइयाँ ही हमारे गौरव के कारण हैं। कठिनाइयाँ ही हमारी गति को आगे बढ़ावेंगी, विशाल शिलाओं और पर्वतों से समुद्र का वेग घटता नहीं, वरन् बढ़ता ही है। हम हिम्मत करेंगे तो ईश्वर भी हमारी मदद करेगा।

फिर निराश क्यों ?

सौन्दर्य्योपासना ।

"O Lady! we receive but what we give
And in our life alone doth nature live."

—COLERIDGE

जब गगनारोही तुषार-मण्डित पर्वत-शृङ्गों, वर्षा-वारि-विलोड़ित नदियों, सघन-श्याम मेघमालाओं, नवकिसलय-शोभित वृक्षों, नूतन पल्लव और कोमल कलियों से विभूषित लतिकाओं, नीलाकाश के प्रशस्त अञ्चल पर हीरक-खण्ड से जगमगाते हुए शुभ्र नक्षत्रों और विमल सलिलवाही मधुर निनादी निर्झरों को देखकर हमारा मन-मयूर प्रेमोन्मत्त—पुलक-मुकुलित हो—नाचने लगता है, उस समय हमको अपनी और दृश्यमान संसार की एकता का अनुभव होने लगता है। यह शोभामय दृश्यमान जगत् जिसके द्वारा हम अपने सौन्दर्य के आदर्श की प्रत्यक्षीभूत कर

रहे हैं, हम से भिन्न नहीं है। यदि हम से यह वस्तुतः पृथक् ही है तो भला किस प्रकार हमारे चित्त को चकित और चलायमान कर सकता है।

यह सुन्दर संसार जिस आदर्श का अनुमान कर रहा है वह आदर्श हमारे आदर्श से भिन्न नहीं। प्राकृतिक दृश्यों द्वारा समष्टि के आदर्श के साथ व्यष्टि के आदर्श की समानता दिखाई पड़ने लगती है। यह दृश्य ही ईश्वर की भाषा है। जो लोग इन दृश्यों को देखने से उदासीन रहते हैं वह ईश्वर के माननीय वचनों का निरादर करते हैं।

सौन्दर्योपासना में ही मनुष्य और दृश्यमान जगत की एकता का सच्चा प्रमाण मिलता है। जब हम कोकिल के कलकूजन में, भ्रमरावली के मधुर गुञ्जार में, मछली का स्वच्छ गम्भीर जल में उछल कर विद्युल्लता की सी चपलता दिखाने में, मदोन्मत्त गजराज की मदभरी चाल में, सिंहनी की क्षीणकटि में, मृगशावक के तरल और कातर नेत्रों में, कमल और शिरीष पुष्पों की कोमलता और सुस्निग्धता में, रम्भास्तम्भों की श्लक्ष्णता में, हिम और कर्पूर की दिव्य धवलता में, पूर्ण शरदिन्दु की सुधा-सनी शीतलता में, आकाश की निष्कलङ्क नीलिमा में, उषःकालीन नवीन मेघों की नेत्र-रञ्जक लालिमा में, कबूतर की लीलायित ग्रीवा में, राजहंसों की मन्द मन्दगति में, तिल-कुसुम और शुक-तुण्ड में, उज्ज्वल और सरस मोती के दानों से भरे हुए अनार में, पक्वबिम्ब और विद्रुम की विचित्र अरुणाई

में, फलभार नम्र-रसाल-शाखाओं की विनीत नम्रता में, कल-कलभ के शुभ्र शुण्ड में, त्रिविध समीर और रजतमयी शरच्चन्द्रिका की मृदुल मन्दमुसकान में, स्त्री और पुरुषों की अलौकिक सुन्दरता का आदर्श उपमान उपमेय रूप से स्थिर कर प्रेमास्पद वस्तु के मनोहर रूप की प्रशंसा करते हैं। उस समय हम अपनी सौन्दर्य्योपासना में सारे संसार की एकता का परिचय देने लग जाते हैं।

सौन्दर्य्योपासना द्वारा हम सुन्दर वस्तु के अस्तित्व को सार्थक कर अपनी और समूचे संसार की एकता स्थापना करते हैं। किन्तु हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सुन्दर वस्तु तभी तक सुन्दर रहती है जब तक उससे किसी प्रकार का लाभ उठाने की चेष्टा नहीं करते हैं। जहाँ लाभ उठाने की चेष्टा की गई—बस, सौन्दर्य्योपासना के यत्परोनास्ति आनन्द का लाभ हाथ से जाता रहा!

क्या मछली पकड़ने वाले शिकारी को मछली उतनी ही ख़ूबसूरत मालूम पड़ती है जितनी कि वह एक सहृदय सौन्दर्य्योपासक को? फूल को गाँछी से अलग कर लेने पर हमें अनुभव हो जाता है कि उसका पहले का सा रूप, रंग, सुगन्ध और सौन्दर्य्य नहीं रहता। सुन्दर वस्तु को अपनी सुन्दरता स्थिर रखने में सहायता देना ही सच्ची सौन्दर्य्योपासना है।

यह उपासना अखिल-विश्व-व्यापिनी है। इसमें कोई साम्प्रदायिक भेद नहीं। यही सच्चा केथोलिक

चर्च (Catholic church) है। इसमें रोमन और ऐंग्लीकन का भेद नहीं।

इस महती उपासना द्वारा हम उस विश्व सौन्दर्य्य की झलक पा जाते हैं, जिससे संसार भर की सुन्दर २ वस्तुओं को अनूठी सुन्दरता मिलती है। वही सच्ची स्वर्गीय सुखमा उच्चादर्श रूप से सदा हमारे मानस मंदिर में विराजमान रहती है। समष्टि और व्यष्टि के आदर्श का मेल होजाता है। खोई हुई वस्तु, अपनी गाँठ से छूटी हुई अमूल्य मणि—मिल जाती है। सौन्दर्य्योपासना द्वारा जड़ चेतन का ही रूपान्तर दिखाई देने लगता है। शत्रु मित्र का भेद भाव नष्ट हो जाता है; हमारे बाधक साधक बन जाते हैं।

फिर निराशा क्यों ?

कुरूपता ।

Far around and beyond whatever is exceptional and illustrious in humn life stretches that which is average and unperceived; all distinctions, all attainments, all signal beauty, skill, wit and whatever a man can exhibit in himself, Swim and are lost in that great ocean.

—EDWARD CARPENTER

न्दर्य्य की उपासना करनी उचित है सही पर क्या उसी के साथ साथ कुरूपता घृणास्पद वा निन्द्य है ? । नहीं, सौन्दर्य्य का अस्तित्व ही कुरूपता के ऊपर निर्भर है । सुन्दर पदार्थ अपनी सुन्दरता पर चाहे जितना मान करे किन्तु असुन्दर पदार्थों की स्थिति में ही वह सुन्दर कहलाता है । अन्धों में काना ही श्रेष्ठ समझा जाता है ।

कुरूपता के पक्ष में कुछ और भी कहा जा सकता है । रूपहीन वस्तु ही रूपवान वस्तु का आधारभूत और पालक पोषक है । कीचड़ से ही कमल की स्थिति है । गुलाब भी कँटीले वृक्ष में उगता है । मोती सीप से पैदा होता है । रत्न क्षार समुद्र से निकलता है । मणि खानि

से निकलती है। गजमौक्तिक हस्ती के मस्तक से निकलता है। कीट से रेशम उपजता है। शून्य नीलाम्बर में चन्द्रोदय होता है। दुरूह पर्वतों के अन्धकारमय गह्वरों में भाँति भाँति की जड़ी बूटियाँ विद्यमान रहती हैं। बड़े २ बीहड़ जंगलों में सहज सलोने मृगछौने रहते हैं। इसी प्रकार पुष्पों का प्रादुर्भाव वृक्षों से और सघन सुन्दर पल्लवों से सुशोभित शाखाओं की स्थिति रूखी और मोटी २ जड़ से है। मनुष्य की स्थिति वनस्पतियोंपर और हरी भरी लहलहाती वनस्पतियों की स्थिति जल, वायु और मिट्टी के ढेलों पर निर्भर है। भूसी निकल जाने पर चावलों में से अंकुरित होने की शक्ति जाती रहती है।

आपके सुन्दर वस्त्र, जिनसे आपकी सुन्दरता बनी हुई है, कहाँ से आये ? वह मिट्टी के ढेले, जिनसे कपास की उत्पत्ति हुई, क्या बड़े रूपवान थे ? वह बेचारा श्रमसहिष्णु कृषक, जिसने दिन रात परिश्रम करके कपास के खेत को उपजाऊ और हरा भरा बनाया, क्या वह भी आपही की भांति कोमल और सुकुमार था ? क्या वह लोहे की चर्खी (मशीन), जिसमें कपास साफ़ की गई थी और जिसके द्वारा कपास सूत में परिणत हो कर सुन्दर वस्त्र रचने के योग्य हुई, काले २ कोयलों की ढेर से नहीं चलाई गई थी ? 'मिल' में काम करने वाले लोग भी सब के सब आपही की भाँति सुकुमार और सुभग सुवेश वाले न होंगे। किन्तु यदि यह सब कुरूप पदार्थ न होते तो आपके सौन्दर्य्य की वृद्धि करने वाले ये सब पदार्थ कहाँ से सुलभ हो पाते ?

सत्तासागर में दोनों ही की स्थिति है। दोनों ही एक

तारतम्य में बँधे हुए हैं। दोनों ही एक दूसरे में परिणत होते रहते हैं। फिर कुरूपता घृणा का विषय क्यों?

रूपहीन वस्तु से तभी तक घृणा है जब तक हम अपनी आत्मा को संकुचित बनाये हुये बैठे हैं। सुन्दर वस्तु को भी हम इसी कारण से सुन्दर कहते हैं कि उसमें हम अपने आदर्शों की झलक देखते हैं।

आत्मा के सुविस्तृत और औदार्य्य-पूर्ण हो जाने पर सुन्दर और असुन्दर दोनों ही समान प्रिय बन जाते हैं। कोई माता अपने पुत्र को कुरूपवान नहीं कहती। इसका यही कारण है कि वह अपने पुत्र में अपने आपको ही देखती है। जब हम सारे संसार में अपने ही आपको देखेंगे तब हमको कुरूपवान भी रूपवान दिखाई देगा। यदि ऐसा न भी हो तो कोई विस्मय नहीं पर रूपहीन वस्तु से घृणा तो अवश्य ही जाती रहेगी। मानव शरीर के ही अंग प्रत्यंग एक ही समान, सभी सुन्दर नहीं होते।

रूपहीन पदार्थ निरादर का विषय नहीं—तिरस्कार का पात्र नहीं। वह भी उसी सुविशाल सत्तासागर का एक कण है, जिसका सुन्दर पदार्थ। सुरूपवानों का उदय भी कुरूपवान पदार्थों से ही होता है। मिट्टी और खाद के कण सुन्दर सुरभित सुमनों में परिणत होते रहते हैं। अतिशय कर्कश, टेढ़े और ऊबड़ पत्थरों से ही मनोमुग्ध-कारिणी हृदयग्राहिणी दृष्टि-उन्मेषिणी मूर्त्तियाँ रची जाती हैं। जो आज कुरूपवान वस्तु है वही कल स्वरूप-वान बन जावेगी।

फिर निराश क्यों?

विश्वप्रेम और विश्वसेवा ।

स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणी।

— भर्तृहरि

"प्रेम-पण्डित ही प्रकृत अद्वैत को है जानता
ईश को संसार में सर्वत्र सब में मानता ।
है न उसके चित्त में हिंसा प्रवृत्ति बलीयसी,
है उसे सब ही जगत विश्वेश की वाराणसी ॥

—'कमलाकर'

जो से प्यारा जगत-हित औ लोक सेवा जिसे है
प्यारी ! सच्चा अवनितल में आत्मत्यागी वही है

प्रियप्रवास

संसार के सभी प्राणी—मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग इत्यादि—स्वहित साधन में तत्पर रहते हैं। अपने ऊपर प्रेम करना किसी से सीखना नहीं पड़ता। अपने लिए सब के सब उदार ही हैं। हाँ, यह ठीक है कि मनुष्य स्वभावतः ही अपने ऊपर प्रेम करता है। किन्तु ऐसे लोगों

की संख्या बहुत थोड़ी है, जो अपने से अतिरिक्त और और व्यक्तियों को प्यार नहीं करते हैं। मनुष्य अपने हित चिन्तन के साथ दूसरे का भी हित-चिन्तन कर ही लेता है।

क्रूरातिक्रूर मनुष्य के हृदय-क्षेत्र से दया के कोमल बीज नितान्त नष्ट नहीं हो जाते। कभी कभी समय पाकर अंकुरित हो आते हैं। निष्ठुर व्याध दिन भर भीषण हत्या-काण्ड में प्रवृत्त रहता है—किस अर्थ? अपने और अपने बाल बच्चों के भरण-पोषण के निमित्त। अपने प्यारे बच्चों के लिए तो निष्करुण व्याध का भी हृदय अत्यन्त सुकोमल हो जाता है। ऐसे २ नर पिशाच, जिनका हृदय कभी भी किसी के लिये दयार्द्र और प्रेम प्लुत नहीं हुआ हो, यदि जगतीतल पर विद्यमान हों तो *किस्से कहानियों में ही होंगे—इस प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत* में तो वस्तुतः कोई भी ऐसे पामर पतित नहीं दीख पड़ते।

भयंकर बाघ भी बाघनी पर आसक्त हो उसके लिये अपनी भारी भयंकरता भूल जाता है। कालरूप सर्प अपनी प्यारी नागिन के लिये अपनी दुर्दमनीय विषैली शक्ति भूल कर, कुसुम-कमनीय हो जाता है। ऐसा कोई नहीं जो किसी न किसी काल में अपनी व्यक्तिता न छोड़ता हो। जहां व्यक्तिता गई वहीं प्रेम की विजय-ध्वनि हुई। बस, सभी विश्वव्यापी पवित्र-प्रेम के अधीन हैं।

प्रेमदेव के वशीभूत होने पर फिर व्यक्तित्व कहाँ? प्रेम के प्रज्वलित पुनीत-पावक में पार्थक्य का नाश हो जाता है। जहाँ प्रेम है वहीं व्यक्तित्व का त्याग (अभाव)

है। प्रेम में ही आत्मा के केन्द्र का विस्तार दिखाई पड़ता है।

जहां एक बार व्यक्तित्व का त्याग हुआ, बस फिर कोई सीमा बाँधना वृथा है। जब अपने व्यक्तित्व का नाश हो गया तब सारे भेदों का भी उसी के साथ नाश हो गया।

प्रेम का अर्थ ही है—व्यक्तित्व का परित्याग। और फिर, जहां यह ज्ञान हो कि सब स्थानों में एक ही पूतात्मा का प्रकाश अथवा विकाश है, प्रेम—रुके हुए जल स्रोत की भाँति सारे बन्धनों को तोड़-फोड़कर—चारो ओर फैलने लगता है। प्रेम का शुद्ध-स्रोत अथाह है। प्रेम की स्वाभाविक वृद्धि विश्वप्रेम द्वारा सम्भव है। भौतिक पदार्थों की भाँति प्रेम की परिस्थिति नहीं। व्यापकता के साथ इसकी तीव्रता घटती नहीं वरन् उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

विश्वप्रेम उन्हीं के लिये कठिन एवं दुस्साध्य है जो अपनी आत्मा को पञ्चमहाभूतों का ही गुण मानते हैं। प्रकृतिवाद व्यक्तित्व से बाहर नहीं जा सकता। किन्तु प्रकृतिवादी भी व्यक्तित्व से बाहर जाने का यत्न किया करते हैं। वे भी परहित-साधन के पक्षपाती हैं। प्रकृतिवादियों की आत्मा हमारी आत्मा से भिन्न नहीं। जब विस्तार ही आत्मा का गुण है तब फिर आत्मा के विस्तार को कौन रोक सकता है। जादू वही है जो सिर पर चढ़ कर बोले!

क्या हमको क्षण प्रतिक्षण इस बात के प्रमाण नहीं मिलते कि हम इस क्षुद्र शरीर में संकुचित नहीं ? हमारे

आदर्श हमें अपनी परिमितता से बाहर ले आते हैं। हमारी देह और इन्द्रियाँ एक देशीय हों तो हों सही पर हमारी आत्मा में एक देशीयता का लेशमात्र भी नहीं।

आत्मा का विस्तार जितना बढ़ाओ उतना ही बढ़ता जाता है। जैसे २ हमारी औदार्य्यमयी सहृदयता की मात्रा बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे हमारी आत्मा का वृत्त बढ़ता जाता है। साधारण मनुष्य के लिए उसका घर ही उसकी आत्मा है। जाति-सुधारक के लिए जाति ही और राष्ट्रनिर्माता के लिए राष्ट्र ही उसकी आत्मा है। देशानुरागी की आत्मा उसकी अपनी परिवार, कुटुम्ब और जाति में ही संकुचित नहीं रहती। उसकी स्वार्थसिद्धि तो देश के परम कल्याण से है। देश का ऐश्वर्य्य उसका ऐश्वर्य्य है। जिस बात से देश का मुख कलंकित हो—उसी बात से उसे भी दारुण दुःख होता है। जिससे देश का मुख उज्ज्वल हो—लांछन छूट जाय—मस्तक उन्नत हो—वही उस देश भक्त के परमानन्द का प्रधान कारण होता है। मनुष्य मात्र की हितकामना करने वाले की आत्मा का विस्तार देशहितैषी की आत्मा के विस्तार से भी वृहत् है। फिर तो, प्राणिमात्र से अविरल प्रेम करने वाले महा पुरुष की आत्मा का कहना ही क्या है। वह तो समष्टि की आत्मा से एक हो जाती है। केन्द्रभूत आत्मा के वृत्त का जितना ही वृहत् विस्तार बढ़ता चला जाय उतना ही अमोघ आनन्दामृत की वृष्टि होगी—यह मिट्टी की काया कञ्चन की हो जायगी—इसी धरती पर स्वर्ग भी उतर पड़ेगा। आत्मा का विस्तार केवल इस बात को

जान लेने ही से नहीं बढ़ता कि हम सब एक ही हैं। यह ज्ञान विश्वप्रेम और विश्वसेवा के लिए परमावश्यक है। किन्तु इनका प्रत्यक्षीकरण अथवा स्पष्टीकरण बिना प्रेम और सेवा के नहीं होता।

विश्वप्रेम और विश्वसेवा ही द्वारा व्यक्तित्व का जटिल बन्धन छूट सकता है। सेवा ही द्वारा अपनी आत्मा का पूर्ण विस्तार जाना जा सकता है। विश्वप्रेम से ही समष्टि और व्यष्टि का एकीकरण हो सकता है। विश्वसेवा ही द्वारा आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है। प्रेम और सेवा द्वारा व्यक्ति की परिमितता जाती रहती है। संकोच का अकुञ्चित विस्तार हो जाता है—सङ्कीर्णता की जगह प्रशस्तता ले लेती है। सत्सेवा के सहारे हम सच्चे विजयी बन सकते हैं—सारे संसार को अपना बना सकते हैं—कलियुग को कृतयुग में पलट सकते हैं—

फिर निराशा क्यों ?

अपूर्ण की पूर्णता ।

'What I aspired to be
and was not comforts me.'
—ROBERT BROWNING
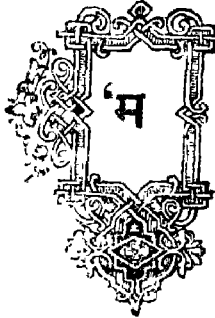
'मनुष्य अपूर्ण है'—क्या यह उसके लिए लज्जा, अपमान और निराशा का विषय है ?। क्या मनुष्य परिमित है ?। और क्या परिमितता दोषों की गणना में आने योग्य है ?। मनुष्य कैसे परिमित हो सकता है ?। यदि मनुष्य परिमित है तो अखिल विश्व में कोई अपरिमित वस्तु नहीं। कारण कि परिमित परिमित ही से परिमित हो सकता है। माना कि मनुष्य परिमित है, अतः अपूर्ण भी है, तो क्या अपूर्णता में कोई विशेषता नहीं ?। हमारी अपूर्णता ही हमारी विशेषता है। इसी का हमें गर्व है—इसी में हमारा गौरव है। अपूर्णता ही में पूर्ण वृद्धि और उन्नति

की आशा है। बद्ध होने पर ही मोक्ष होती है। अपूर्णता ही जीती जागती वस्तु है।

अपूर्ण की सम्भावनाएँ अपरिमित हैं। वे चाहे जो कुछ हो सकती हैं। अपूर्ण की अपरिमित सम्भावनाओं में उसकी पूर्णता है। अपूर्ण हो कर भी जो अपने को सत्कर्म्म (सद्धर्म्म)-परायण बनाते हैं उन्हीं का समुचित सम्मान किया जाता है। इसी कारण मनुष्य योनि को सर्व-श्रेष्ठ कहा है। उसकी अपूर्णता ही से सत्कर्मों का मूल्य बढ़ जाता है। वह सहज ही में परमगति प्राप्त कर लेता है। इसी कारण देवता लोग भी नर-शरीर धारण करने के लिए लालायित रहा करते हैं। और तो कहना ही क्या ! स्वयं परमात्मा भी अपूर्ण का महत्व बढ़ाने के अर्थ संसार में अवतीर्ण होते रहते हैं। भगवान अपनी नर-लीलाओं द्वारा अपूर्ण की अमित सम्भावनाओं को संसार पर प्रकट करते रहते हैं। पूर्ण का व्यंजन अपूर्ण द्वारा ही हो सकता है। अपूर्ण ही पूर्ण की भाषा है। कालातीत काल में प्रकट हो काल को वास्तविक सत्ता देता है।

अपूर्ण पूर्ण का ही रुपान्तर है। अपूर्णता में ही पूर्ण की नित-नूतन मूर्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। अपूर्ण अपूर्ण नहीं वरन् पूर्ण का ही चलता हुआ रूप है।

शुक्ल पक्ष की द्वितीया का चन्द्रमा अपूर्ण है। किन्तु उसकी सब बन्दना करते हैं। इसका क्या कारण है। उसकी अपूर्णता ही उसके जगद्वन्दनीय होने का हेतु है। अपूर्णता में उत्तरोत्तर वर्द्धमान होने की सम्भावना है।

अपूर्ण की पूर्णता।

यह सम्भावना ही अपूर्ण के गौरव को बढ़ाती है। इस गरिमा-पूर्ण अपूर्णता को प्राप्त कर हमको अपना जीवन धन्य समझना चाहिये। यद्यपि इस जीवन में सुख दुःख, सफलता असफलता, हानि लाभ, संयोग वियोग, के जोड़ लगे हुए तथापि यह उन्नतोन्मुख होने के कारण सब जीवनों में श्रेष्ठ है। हमारी अपूर्णता में स्थिरता का दोष नहीं। हमारे उन्नति पथ की ओर छोर नहीं। इसमें सदा नवीन दृश्य दिखाई पड़ते रहते हैं। इस कारण इस पथ की अनन्तता हमारे उत्साह को घटाने वाली नहीं, हमारे अपूर्ण चन्द्र के लिए कभी पूर्णिमा नहीं आती और न इसको निष्क्रियता का राहु ही ग्रस सकता है। हमारे लिये सदा शुक्ल पक्ष है।

फिर निराशा क्यों?
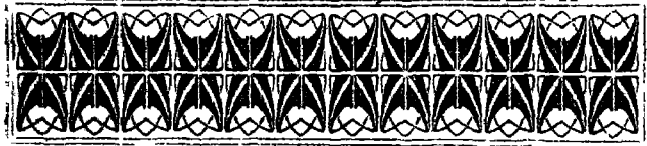
पुनीत पापी।

Hate sin and not the sinner

जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा।
वन्दनीय जेहि जग यश पावा॥

तुलसीदास

हम पापी नहीं ?; फिर तो हम से दूसरे की भलाई होने की क्या सम्भावना ? हम किस प्रकार सत्तासागर की गति को सीधी करने में योग दे सकते हैं ?।

वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति आदि सभी मुक्त-कण्ठ से जघन्य पापों से बचने की आज्ञा देती हैं। किन्तु पापी को त्याज्य नहीं बनाते। कौन ऐसा है जो पापी नहीं ?। जब सभी लोग पाप-पङ्क में फँसे हुए हैं तो कौन किसको घृणा कर सकता है। कौन किसको परित्याग कर सकता है।

पुनीत पापी।

एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देख कर हम इस गाढ़े पाप-पङ्क से बाहर नहीं निकल सकते। घृणा करने से हमारी शक्ति कम होगी। एक दूसरे के साथ सहृदयता में ही हमारे पाप-पंक से मुक्त होने की सम्भावना है।

हम पापी हैं। हमें पापियों को नीचा न समझना चाहिए। जब हम पाप के तीव्रतम तीक्ष्ण ताप से तप्त होते हुए भी पाप से विमुख नहीं होते तब हमको पापियों से मुख मोड़ने का क्या अधिकार ?।

पापी लोग उनकी अपेक्षा अच्छे हैं, जो अपने को पूर्ण समझते हैं। ऐसे लोग अपनी उन्नति का द्वार सदा के लिए बन्द कर चुके हैं। उनके जीवन-नाटक के अभिनय में अन्तिम बार यवनिका-पतन हो चुका। अब उस नाट्यशाला के रङ्गमञ्च पर कोई मनोज्ञ दृश्य न दिखाये जावेंगे। उनकी शिक्षा शेष हो चुकी। वे अपना समावर्तन संस्कार करा चुके। वे अब पीछे ही को हटेंगे—आगे न बढ़ेंगे। न तो वे अपना सुधार कर सकते हैं और न उनसे दूसरे के सुधार की आशा है। वे लोग हमारे नेता नहीं बन सकते। हमारा नेता हमसे बाहर नहीं हो सकता।

हम पापी लोग मनुष्य समाज के गौरव हैं। मनुष्य ही एक ऐसा जीवधारी है जो पाप कर सकता है। पशु-समुदाय न पाप ही करता है, न पुण्य ही। देवगण केवल पुण्य ही पुण्य। हम लोग पाप और पुण्य

दोनों ही करते हैं। पाप करने की सम्भावना होते हुए पुण्य करना ही मनुष्य की श्रेष्ठता का कारण है!

मानव समाज में पापियों की स्थिति मनुष्य की महती स्वतन्त्रता का सूचक है। मनुष्यों ने अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग अवश्य किया पर यदि दुरुपयोग की सम्भावना न होती तो सदुपयोग ही से क्या लाभ होता। और फिर, हमारी स्वतंत्रता किस बात की। जिस बात की सम्भावना है उसका होना भी कोई आश्चर्य्य नहीं। शहसवार ही गिरते हैं, घुटनों के बल चलने वाले बच्चे क्या गिरेंगे ?। मनुष्य ही पाप करते हैं। पशु, पक्षी, कीट, पतंग, नदी, पर्वत, वृक्ष, लता, ईंट, पत्थर आदि भला क्या पाप करेंगे।

वे लोग, जो अपने को पापी समझते हैं और इस कारण दूसरे के साथ सदा नम्र भाव से वर्तते हैं, अहंमन्य पुण्यात्माओं से कहीं अच्छे हैं। उनका दर्शन परम पुनीत है। उनको देखते ही हमारे हृदय में मनुष्यत्व के सद्भावों का अभ्युदय होता है।

जो लोग अपने को पापी समझते हैं उन्हीं से समाज के सुधार की पूरी पूरी आशा है। वे ही लोग पापियों से मिल कर पापियों के पुनरुत्थान में साहाय्य दे सकेंगे। पाप के दलदल से निकलना एक व्यक्ति का काम नहीं। इसमें सहकारिता की आवश्यकता है। ऊपर को चढ़ाई कठिन है। सब को एक साथ लेकर ही चलना श्रेयस्कर है।

हम गिर गये हैं। यह हमारे लिए कोई निराशा का

विषय नहीं । गिर कर अधीर हो पड़े रहना लज्जा का विषय अवश्य है। किन्तु न गिरने वाले से गिर कर उठने वाला ही श्रेष्ठ है। वह एक बार गिर चुका है—जीवन-यात्रा के पथ को दुर्गम बनाने वाले गहरे गड्ढों और बड़ी २ खाइयों को पहचान चुका है—अतएव, सँभाल कर सावधानी से चलेगा।

हमारा पिछला जीवन बुरा है—यह हमारे भय का कारण नहीं। यदि हम अगले जीवन को सुधार सकते हैं तो हमारा सारा जीवन सुधर जावेगा। गया गुज़रा वक्त भी फिर हाथ आ जावेगा।

हमारा जीवन बन रहा है। अभी सुधार का सुअवसर मिला है। अपनी भूल को भूल मानने में अभी बहुत देर नहीं हुई। यदि हम गिर कर उठेंगे—सँभलेंगे—सुधरेंगे तो हमारा सुधार चिरस्थायी होगा। हमारे अनेक साथी हैं। यदि उनको हम अपने साथ ले चलने की कोशिश करेंगे तो दुर्गम मार्ग भी सुगम बन जावेगा—मार्गस्थ सभी विघ्नबाधाएँ टल जायँगी। हम उनके साथ सुखपूर्वक चले चलेंगे और वे हमारे साथ अग्रसर होते जायँगे। हमारी सहायता करने में वे हाथ बँटावेंगे और उनकी सहायता करने में हम तन मन धन समर्पण करेंगे।

फिर निराशा क्यों ?

स्वयम्भू-सुधारकों का सुधार

पर उपदेश कुशल बहुतेरे ।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे ॥

आत्मानमेव प्रथम मिच्छेद्गुण समन्वितम
कुर्वीत गुणसंयुक्तस्तत शेषपरीक्षणम

—कामन्दकीयनीतिसार

Physician heal thyself.

हम दरिद्र हैं। हम घृणित हैं। हम पद दलित हैं। हम दूसरों की दया के भूखे रहते हैं। सब लोग हम से बातचीत करना पुण्य का काम समझते हैं। हमारे सुधार के लिए सभा सुसाइटी करते हैं। हम किसका सुधार कर सकते हैं।

सुधार किसका ?। अपना और अपने सुधारकों का।

हम गिरे हुए हैं। हम अपने सुधारकों से कैसे बढ़ सकते हैं और क्या हमारे सुधारकों में भी सुधार की आवश्यकता है ?। हाँ, हमारे सुधारक हमसे गिरे हुए हैं। वे समझते हैं कि वेही बड़े विचारवान हैं। वे समाचार

पत्रों को पढ़ते हैं और क्लब में बैठ कर यूरोपीय महा भीषण संग्राम और अमेरिका के अन्तर्जातीय व्यवसाय पर सम्मति दे सकते हैं और प्राप्त सम्मतियों का समर्थन भी कर सकते हैं। वे सात समुद्र पार की बात जानते हैं। किन्तु उनको यह नहीं मालूम कि उनके नौकर के घर में कितने बच्चे हैं और वे किस प्रकार जीवन-निर्वाह कर रहे हैं। वे यूरोपीय महायुद्ध की रोमाञ्चकारी घटनाओं को सुनते हैं किन्तु एक भूखे कंगाल के साथ दारिद्र्यदैत्य से घोर युद्ध होने की हृदयद्रावी बात सुनने में उनको सिरदर्द हो जाता है।

हमारे सुधारक स्वतन्त्रता की डींग मारते हैं। किन्तु उनमें से बहुतेरे सामाजिक जटिल बन्धनों से बाहर होने में सर्वथा असमर्थ हैं। गर्मी बरदाश्त करेंगे-कपड़े नहीं उतार सकते। नंगा नौकर फिरेगा—आप कपड़े पहनेंगे। भूखे दुखियों को खिलाने के लिए तो नितान्त निर्धन बन जायँगे पर क्लब और पार्टी में खाने खिलाने की बेर कुबेर के बड़े भाई बन जाते हैं। अपनी स्वार्थ सिद्धि के हेतु नौकरों से झूठ बुलवाना अथवा अन्याय और कुनीति-पूर्ण बातें कहलाना अत्यन्त साधारण बात समझते हैं और, जब वह नौकर अपने लिए झूठ तथा दुर्नीति के वाक्य बोलता है तब दंड देने में तनिक भी कुछ संकोच नहीं करते।

समाजसुधारक बनते हैं। किन्तु एक नीच मनुष्य से बाज़ार में यह नहीं पूछ सकते कि—'भाई! आपके घर कुशल मंगल तो है?'। पुण्यात्मा बनते हैं, किन्तु पापी

से हृदय-शून्य व्यवहार करने में लज्जित नहीं होते। जाति पाँति का भेद नहीं मानते, किन्तु धोबी, धीवर और धानुक से वे क्यों गदहा—सूअर—बदमाश' कहे बिना मुख नहीं खोलते।

अर्थ शास्त्र के पण्डित बनते हैं, किन्तु कभी खेतों में जाकर नहीं देखते कि किस तरह के कड़े़ पर परिश्रम से अर्थ पैदा होता है। पूँजीवाले बनते हैं, किन्तु असली पूँजी बनानेवालों का सलाम तक भी नहीं लेते।

अँग्रेजी फिलासफी और भारतीय दर्शनों का मनन मथन करके विविध भांति के अनुसंधान करते हैं, किन्तु एक निपट दरिद्र के शुद्ध अगाध हृदय में बैठ कर वहाँ पर बिखरे हुए मोती के दाने नहीं उठाते—उस चित्त-विकार-विगत हृदय में पैठकर खोज नहीं करते। दर्शनशास्त्र का पाठ करते हैं पर संसार के नश्वर पदार्थों में अविनाशी परमात्मा का दिव्य दर्शन नहीं करना चाहते।

साहित्य-सुधारक कहलाने के गौरव से गर्वित हैं पर किसी मनुष्य के साथ मधुर मंजुल सम्भाषण करके उसके कलुषित चित्त में घिरी हुई भीमान्धकार की घटा हटा कर उत्साह और विवेक की विमल ज्योति जगाना नहीं जानते। शायद वे स्वयं अपने हृदय को भी प्रेम प्रदीप से आलोकित करने का प्रयत्न नहीं करते।

बड़े भारी रत्न-परीक्षक बनते हैं, किन्तु जीते जागते जगमगाते हुए रत्नों का दिन रात तिरस्कार करते रहते हैं। अहो, इन बड़ों की क्षुद्रता! 'अहो

धिग्वैषम्यं लोकव्यवहारस्य'। क्या हम इनसे अच्छे बन सकते हैं? अवश्य। हम में क्या विशेष गुण है? हमको दुःख और निर्धनता की पुनीत पाठशाला में श्रमशीलता, स्नेह और सहृदयता की शिक्षा मिल चुकी है। अब हमको जो कुछ शिक्षा मिलेगी उसे हमारी पूर्वार्जित शिक्षा पावन बना देगी। हम दुखिये का दुखड़ा समझेंगे। कभी किसी को नीचा न देखेंगे।

हमको अपने सुधार के लिए विशेष धन की दरकार नहीं। हमको एफ़ीशीयंट टीचिङ्ग (Efficient teaching) के लिए बड़ी २ आलीशान इमारतों तथा बिजली के पंखों की ज़रूरत नहीं। हमको तो ज़मीन ही पर बैठने का शौक़ है। पेड़ की डालियों से समता रखने वाली टेढ़ी सीधी कुर्सियों की ज़रूरत नहीं। हमारे वास्ते बिजली की चमकीली रोशनी की भी दरकार नहीं। प्रेम की प्रदीप्त प्रभा से ही हमारे घरों में प्रकाश छा जायगा। हमको हाथ से काम करने में कुछ लज्जा नहीं आती। हमें सेवक की चाह नहीं। हम स्वयंसेवक बनना परमधर्म समझेंगे। स्वेच्छासेवक बनकर अपने को गौरवान्वित समझेंगे।

हमारे सुधार से हमारे सुधारकों का भी नेत्रोन्मीलन हो जावेगा। हम अपने सुधार द्वारा सब का सुधार कर सकेंगे। हमारे सुधारक भी यदि यह शिक्षा ग्रहण करलें तो देश का कल्याण होने में विलम्ब न होगा।

फिर निराशा क्यों?

दुःख ।

'नहि सुखं दुःखैर्विना लभ्यते'

—कालिदास

विधि प्रपञ्च गुण अवगुण साना ।

दुख सुख पाप पुण्य दिन राती ॥

—तुलसीदास

Then, welcome each rebuff
That turns earth's smoothness rough,
Each sting that bids nor sit nor
stand but go,
Be our joys three parts pain !
Strive and hold cheap the strain,
Learn, nor account the pang ; dare
never grudge the throb.

—BROWNING.

हाय दुःख !!! तुझ से अभिभूत एवं पीड़ित होकर हम लोग किस किस को बुरा नहीं कहते और किस २ के शत्रु नहीं बनते ? । तुझ से बचने के लिए किस २ के साथ अनर्थ और अन्याय नहीं करते ? । दुःख की आत्यांतिक निवृत्ति ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है । तेरे अनेक रूप हैं । प्रत्येक

मनुष्य के लिए तुम विशेष रूपधारण कर व्यक्त होते हो। किन्तु तेरा स्वागत करना विरले ही जन जानते हैं। लोग पूछते हैं कि तुझ से क्या लाभ? । तेरा स्वागत क्यों करें ? । तुझ में क्या अनोखा गुण है ? । किन्तु वे लोग इस बात से अनभिज्ञ हैं कि तू जगत में एक महान् सञ्चालन-शक्ति है। तेरे ही साक्षात्कार से ईश्वर की अपरोक्षानुभूति होती है। तू धन मदान्धों का ज्ञानाञ्जन है। अतः तू जगत् का परमगुरु है। तेरी मैत्री में सांसारिक सम्बन्ध का सत्यासत्य निर्णय हो जाता है। देखो, कहा भी है कि—"धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपति काल परीखिय चारी॥ इसलिये तू ही मनुष्यत्व की एक मात्र सच्ची कसौटी है। तेरी शिक्षा के प्रभाव से दया, सहिष्णुता, स्नेह सहृदयता एवं वैराग्य आदि सद्गुणों का आविर्भाव होता है। तू कुलिश-कर्कश-हृदय को द्रवीभूत करके कोमल कमल सरीखा बना देता है। तेरी ही प्रेरणा से निर्दय दयालु, आसक्त विरक्त, कायर शूरवीर और अधीर धैर्य्यवान बन जाता है। करुणारस-पूर्ण काव्य को पढ़ने से दुख अवश्य होता है, किन्तु कोई उस दुख से नहीं भागता। उस दुख से जो चित्त की शुद्धि है वह आंसुओं के मोल में नहीं है। लोग रुपया खर्च करते हैं और दुखान्त नाटक में अश्रुधारा बहाना पसंद करते हैं। किस अर्थ? अपने हृदय के मानुषी भावों की पुष्टि के लिये ही इतना कष्ट उठाया जाता है। वियोग के दुख में ही प्रेम की पूर्ण प्रतीति होती है। वियोगी लोग संसार भर के सुख के लिये भी अपने वियोग

जन्य दुख को नहीं छोड़ना चाहते। सुखवादी चाह जो कुछ कहे, मनुष्य को दुख से स्वाभाविक घृणा नहीं।

हे सर्वगुणशाली दुःखदेव ! हम तेरे शुभागमन से किञ्चिन्मात्र विचलित नहीं होते। हम तुझ से डरते भी नहीं। क्योंकि तू हमारा आत्मज है। तेरे जन्म से भावी सुख की पूर्ण आशा है। दुःख की पवित्र अग्नि में हृदय दौर्बल्य, मनः क्लैब्य, राग, द्वेष, ईर्षा, अहंकार और क्रोध आदि विषम दुर्गुणों के दहन हो जाने पर हम तप्त-कञ्चन की भाँति दैवी-प्रभा से चमकने लगेंगे। दुःख दावानल में दग्ध होकर विकार का बीहड़ वन भस्म हो जायगा और हमारी विशुद्ध आत्मा अमूल्य मणि की भांति देदीप्यमान हो जायगी। जिससे हम भयभीत होते हैं वही हमारा परमहितेच्छु—प्रिय सखा—है। दुःख ही हमारे विकाश का साधक है—हमारे अभ्युदय का बलवान प्रेरक है।

फिर निराशा क्यों ?

भूल ।

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ।

मनुस्मृति ४।१३७

To err is human.

ऐ भूल ! मानवजाति से तेरा घनिष्ठ सम्बन्ध है। छोटे ओछे मनुष्य अपने छोटे मोटे कार्य्यों में भूल करते हैं। महान पुरुष भी अपने महत्कार्य्यों के सम्पादन में भूल कर बैठते हैं। किन्तु भूल से कोई भी ख़ाली नहीं। दृष्टि में भूल, सुनने में भूल, विचारने में भूल, समझने में भूल, कर्त्तव्य-पालन में भूल और अनेक साधारण कार्य्यों को सम्पन्न करने में भी भूल। अरी भूल ! भिन्न भिन्न रूप से तू मानवसमाज में व्याप्त हो रही है। फिर तो मनुष्य का गौरव कैसा।

"मनुष्य भूल करता है, अतः वह निन्द्य नीच है. उसकी बातों का विश्वास नहीं"; ऐसा विचार करना बड़ी भूल है। केवल यही एक ऐसी भयंकर भूल है जो अमार्जनीय है।

भूल।

भूल ही मनुष्य का गौरव है। भूल भी केवल मनुष्य ही कर सकता है—मशीन या जानवर नहीं कर सकते, जिनके लिए एक मार्ग के अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग नहीं। मनुष्य के लिए अनेक सम्भावनायें हैं। उसका दृष्टि-क्षेत्र संकुचित नहीं। उसके लिए सहस्र सहस्र मार्गों के द्वार उन्मुक्त हैं।

भूल ही से इन भिन्न २ मार्गों की यथार्थ उपयोगिता का ज्ञान होता है। भूल ही द्वारा अनिश्चित ज्ञान निश्चित होता है। भूल ही से स्वप्न भी वास्तविक सत्ता में परिणत होता है। मनुष्य जाति की उन्नति का विकाश भूल ही के इतिहास में है। भूल ही द्वारा मानव जाति की नई २ सम्भावनाओं की सूचना मिलती है। भूल ही द्वारा बन्द राहों के फाटक खुल जाते हैं। भूल अज्ञान नहीं। भूल ही असली ज्ञान की प्रथम श्रेणी है। भूल अल्पज्ञान है। हम जान बूझ कर भूल नहीं करते। अपनी जानकारी भर में सब ही ठीक किया करते हैं। केवल भूल इतनी ही है कि हम थोड़े से ज्ञान के आधार पर ही काम को कर बैठते हैं। किन्तु बिना क्रिया के ज्ञान का परिपक्व होना कठिन है। क्रिया की कुञ्जी से ही ज्ञान के दुर्भेद्य रहस्य का ताला खुल जाता है। फिर भूल को हम भूल क्यों कहें ?।

बिना धरती पर पैर रक्खे उस स्थान की दृढ़ता नहीं मालूम होती। यदि निकल गये तो पार हो गये और यदि गिर पड़े या दलदल में फँस गये तो दूसरों के लिये शिक्षा हो गई।

फिर निराशा क्यों ?

जो लोग भूल करके हानि उठाते हैं, वे मनुष्य समाज के लिए अपने हित का बलिदान करते हैं और स्वार्थ की तिलाञ्जलि देकर परहित साधन करते हैं। वे समाज का बड़ा उपकार करते हैं। वे हमारे पूज्य हैं। हम उनके उपकार से कदापि उऋण नहीं हो सकते।

एक मनुष्य की बलि से सारे मानव समाज का अभ्युदय होता है। भूल करने वाले का जीवन व्यर्थ नहीं जाता। जो लोग अपनी आत्मा का विस्तार सभी आत्माओं में निरीक्षण करते हैं उनके लिये परहितार्थ अपना अनहित वा स्वार्थ-त्याग श्रेय है। भूल से जो संसार का लाभ होता है उसी की ओर ध्यान दो—भूल करनेवाले व्यक्ति की हानि की ओर नहीं। भूल को समस्त मानव समाज के सम्बन्ध में देखो। फिर तो भूल भूल न रहेगी।

जो लोग भूल करते हैं वे लोग मनुष्य की आवश्यकताओं का झुकाव समाज पर प्रकाशित कर देते हैं। भूल से बढ़ कर मनुष्य की आवश्यकताओं का और कोई ज्ञापक नहीं है। भूल करने पर ही हमको यह मालूम होता है कि हमें किस बात की खोज थी। भूल से ही खोज का महत्त्व बढ़ जाता है। भूल करने पर ही यह मालूम होता है कि हमारी आवश्यकता इतनी बड़ी हुई थी कि हमें उसकी पूर्ति के लिये भूल करनी पड़ी। क्या अपनी आवश्यकताओं की जानकारी रखना हमारी उन्नति का एक मुख्य साधन नहीं। जो लोग अपनी आवश्यकताओं को

नहीं जानते वे लोग उनकी पूर्ति में सफलवान नहीं हो सकते।

भूल ही हमारी उन्नति का द्वार है। जो लोग भूल नहीं करते वे लोग अपनी उन्नति का द्वार बन्द किये हुये बैठे हैं। यदि भूल करके अपनी भूल के ऊपर विचार करें तो अपनी स्वल्प हानि से गुरुतर लाभ उठा सकते हैं। कंकड़ों के मोल में रत्न ख़रीद कर सकते हैं।

फिर निराशा क्यों?
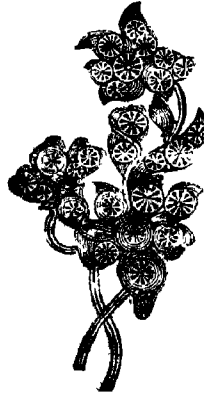
हमारा नेता कौन ?

मन्यामहे मलयमेवयदाश्रयेण
कंकोल निम्ब कुटजाअपि चन्दनाःस्युः ॥

—भर्तृहरिः ॥

They (Kabir. Nanak and others) did not say "You have been wicked now let us be good." They said "you have been good now let us be better"

—SWAMI VEVEKANAND

म पाप-पंक में फँसे हुए हैं। हमें इस से कौन उबारेगा ?। हमारा नायक कौन ?। हमारा नेता वही हो सकता है जो हमारे साथ है। जो लोग हमारे साथ नहीं उनको हमारी कठिनाइयों का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। उनके उपदेश से हमारे लाभ की कोई सम्भावना नहीं।

लोग कहते हैं कि अन्धा अन्धे को राह नहीं बतला सकता। क्या यह ठीक है ?। नेत्रवान लोगों का और अन्धों का अनुभव एक सा नहीं। नेत्रवान के अनुभव

से अन्धे लाभ नहीं उठा सकते । "खग जानै खग ही की भाषा"।

जो लोग हमसे बाहर हैं वे लोग हमारे साथ ज़ोर नहीं लगा सकते । ऐसे कितने हैं जो हमसे बाहर हैं। फिर, उनका बल ही कितना । हमारे उद्धार के लिये हमारे साथ रह कर ज़ोर लगाने की ज़रूरत है। जो हमारे साथ नहीं, वह हमारा नेता नहीं। हमारे साथ जिसकी सहानुभूति नहीं, हमारी सहकारिता में जो योग नहीं देता—जिसके निर्मल हृदय-दर्पण में हमारे दुःख का सच्चा प्रतिबिम्ब नहीं, वह कदापि हमारा उन्नायक नहीं ।

हमारा सच्चा नेता वही है जो हमारे साथ रहते हुए भी आगे की ओर निगाह डाल सकता है। आगे की ओर देखना ही उन्नति के पथ में पैर रखना है। आगे की ओर देखते ही हमको अपनी स्थिति का ज्ञान होने लगता है। जहाँ अपनी स्थिति का ज्ञान हुआ वहाँ बस उस स्थिति में रहना कठिन पड़ जाता है। जो नीचों में रह कर ऊँचे आदर्श रक्खें वेही हमारे नेता हैं। संसार में ऐसे नेताओं की कमी नहीं। नेता की पदवी सब को मिल सकती है। किन्तु जो लोग अपने को हमसे आगे बढ़ा हुआ समझते हैं वे लोग इस गौरव को नहीं प्राप्त कर सकते।

नेता बन कर अपने को नेता न समझना, यही नेतृत्व का मुख्य लक्षण है। जो लोग अपने को नेता समझते हैं वे हम लोगों से बाहर हो जाते हैं और न तो वे ही हमारे

बल से लाभ उठा सकते हैं और हमभी उनके बल से लाभ नहीं उठा सकते हैं। नेता की सफलता अपने साथियों की सफलता में है। नाम नेता का होता है पर कार्य्य-सिद्धि साथियों की। फिर नेताओं को अपने साथियों से बड़ा समझने का क्या अधिकार।

नेता की श्रेष्ठता केवल इस बात में है कि वह उस आदर्श को पहले देखता है जिसको कि उसके साथी पीछे से देखेंगे। वह नेता सच्चा नेता नहीं जो अपने साथियों को अपना सा नहीं बनाता। लोहे को सोना बनाना कोई दुष्कर कार्य्य नहीं। किन्तु लोहे को पारस बना देना कठिन है।

नेता का कार्य्य दूसरों को उनकी संकुचित दृष्टि के कारण अन्धा कहने का नहीं। वह भी कुछ काल पहिले अन्धा ही था। थोड़े ही दिनों के बाद उसके साथी दूर का पदार्थ देखने लग जावेंगे। नेता को चाहिये कि वह अपने अनुभव को दूसरों का अनुभव बनाने का यत्न करे। लोगों के दृष्टि-कोण को अपने दृष्टि-कोण से मिलाना ही नेता का परम कर्त्तव्य है। नेताओं की कमी नहीं। प्रत्येक मानव समाज में नेता विद्यमान हैं। उनको केवल एक बात की आवश्यकता है कि वे अपना नेतृत्व भूल जावें। अपने को साधारण लोगों में से समझें। समाज में मिल कर सारे समाज को अपने नये रंग में रँग दें। ऐसा करने से मूर्ख लोग पंडित बन जावेंगे। मूक भी वाचाल हो जावेंगे। पिछड़े हुए लोग अग्रसर हो जायँगे। साथी और नेता में कोई भेद न रहेगा।

फिर निराशा क्यों ?

"कर्मयोग की मोक्ष"

'कर्म प्रधान विश्व कर राखा'

—तुलसी

"नमोस्तु कर्म संन्यासात कर्मयोगो विशिष्यते"

—श्रीमद्भगवद्गीता।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतसमाः

—ईशोपनिषद्।

हम सत्तासागर के वक्षस्थल के ऊपर बहने वाले तृण नहीं। उस सागर की गति का वेग निश्चित करने में हमारा बहुत बड़ा भाग है। संसार में सामञ्जस्य स्थापित करना हमारा मुख्य उद्देश्य है। ईश्वर चाहता है कि हम नितान्त दुधमुंहे बच्चे न बने रहें। वह संसार को एक ओर चलाने की शक्ति रखते हुए भी हमारी पुष्टि और वृद्धि के लिये अपनी अपरिमित शक्तियों का संकोचन किये रहता है। हमको क्रियापरायण और उद्यमशील देखकर वह प्रसन्न होता है। वह कभी नहीं चाहता कि आश्रित जीव निरे मिट्टी के पुतले बने रहें। निष्क्रिय मिट्टी के पुतलों का ईश्वर होना कोई गौरव का विषय नहीं।

कर्मयोग की मोक्ष ?

कर्म को छोड़ना ही बन्धन में पड़ना है। कर्म के त्याग से ही पानी के ऊपर बहते हुए क्रियाशून्य तृण की भाँति हमारी दशा हो जाती है। इससे और अधिक बन्धन क्या हो सकता है। फिर तो क्या कर्म के करने से बन्धनों की रस्सी टूट जाती है ?। ऐसा भी नहीं। चोरी भी तो एक कर्म ही है पर चोर को पाप से छुटकारा नहीं मिलता। जो कर्म संसार में अनेकता का भाव पैदा करते हैं, वे संसार में सामञ्जस्य स्थापित करने में अक्षम रहते हैं। वे व्यष्टि को समष्टि से अलग कर उसे समष्टि के यथेष्ट बल के लाभ से वञ्चित कर देते हैं। उसकी शक्तियों का पूर्ण विकाश नहीं होने पाता। नीच स्वार्थ-साधन के निमित्त किये हुए कर्म जल-कण को सागर से पृथक् करने की चेष्टा करते हैं। सागर से पृथक् होकर जलकण गतिहीन हो जाता है—यह परम बन्धन है। व्यष्टि का समष्टि से अलग होना असाम्य को बढ़ाता है। असाम्य द्वारा समष्टि और व्यष्टि दोनों ही की सम्बन्ध-तन्तु क्षीण हो जाते हैं। शक्तियों का यथेच्छ एवं यथोचित विकाश न होना ही बन्धन है। कर्म में सङ्कोच द्वारा मोक्ष नहीं मिल सकता। पुनः, मोक्ष किस कर्म से है ; वह मोक्ष किस प्रकार का होगा और कब मिलेगा ?।

जिन कर्मों का मूल केवल स्वार्थसाधन में संकुचित नहीं हो जाता—जो कर्म सत्ता-सागर के जल-कणों में सामञ्जस्य स्थापित कर संसार-सागर की उन्नति के विकाश में योग देते हैं—वही कर्म मोक्ष-प्रद है। समष्टि की उन्नति में ही व्यष्टि की भी उन्नति है। व्यष्टि समष्टि से अलग हो अपनी स्थिति नहीं रख सकती। समष्टि ही

व्यष्टि की सच्ची आत्मा है। समष्टि के लिये जो कर्म है उसी में सच्चा स्वार्थ है।

समष्टि के योग से जो व्यष्टि की क्रियायें होती हैं वे ही उसकी शक्तियों को यथोचित रीति से विकशित करने में समक्ष होती हैं। वही उसकी संकीर्णता और परिमितता को छिन्नभिन्न कर सकती है। विश्वप्रेमवश किये हुए कर्म ही व्यष्टि को समष्टि से मिला देते हैं वे ही उसके जटिल बन्धनों को तोड़ने में समर्थ होते हैं। वही कर्म उसको ईश्वर के निकट पहुँचाने में समर्थ होते हैं। वही कर्म ईश्वर और मनुष्य के संकल्पों की एकता की रचना कर मनुष्य की परिमितता को छुड़ा देते हैं। यह मोक्ष स्वार्थ का मोक्ष नहीं। यही मोक्ष समष्टि का मोक्ष है। फिर यह मोक्ष कोई दूरवर्ती मोक्ष नहीं। इस मोक्ष का अनुभव प्रत्येक सत्कार्य्य के करते समय होता रहता है। यदि मोक्ष की प्राप्ति करना है तो सत्कार्य्य की ओर रुचि बढ़ाना चाहिये। यह मोक्ष दुर्लभ नहीं। न इसके लिए बहुत काल तक ठहरना पड़ेगा। मनुष्य होते हुए भी हम अपनी परिमितता छोड़ सकते हैं। ईश्वर की सन्निधि में पहुँच सकते हैं।

फिर निराशा क्यों ?

चिर-वसन्त ॥

इत्साहैकधनेन वीर हृदये नाप्नोति खेदोऽन्तरम्

[कथा सरित् सागरे]

Come and rejoice for April is awake.
Fling yourselves into the flood of being bursting the bondage of the past.
April is awake.
Life's shoreless sea is heaving in the sun before you,
All the losses are lost, and death is drowned in the waves.
Plunge into the deep without fear,
with the gladness of April in your heart.

—*The cycle of Spring.*

र्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते”—वसन्त ऋतु में सभी पदार्थ मनमोहनी शोभा धारण कर मनुष्य के चित्त को चलायमान कर देते हैं। केवल मनुष्य का चित्त ही चलायमान नहीं होता, किन्तु सारी चराचर सृष्टि में ऋतुराज के स्वागत के अर्थ क्रिया की स्फूर्त्ति होने लगती है। वृक्ष और लतायें हर्षोत्फुल्ल हो अपने

सुन्दर अंगों को नूतन पल्लवों के विकाश से पुलक-पुञ्जित बना लेती हैं। शीतलमन्द सुगन्ध वायु का सुखद सञ्चालन, विविध विचित्र विहंगों का सरस कल-रव और पशुओं की भाँति २ की केलि यह सब क्रिया-सञ्चार की साक्षी हो रही हैं। "ऋतूनां कुसुमाकरः"—इन अर्थपूर्ण शब्दों द्वारा श्रीकृष्ण भगवान ने भी इस ललित कलित वसन्त ऋतु की महत्ता और गरिमा बतलाई है।

क्या हम इस वसन्त को चिरस्थायी बना सकते हैं। हाँ, हम अपने सद्भावों द्वारा बीत जानेवाली ऋतुओं का गति को फेर सकते हैं।

जिसके हृदय में प्रेम है उसको सब वस्तु ही परम-प्रिय दिखाई पड़ती हैं। उसके लिए काल-विशेष की आवश्यकता नहीं। प्रेमान्ध को आवणमास के अन्धे की भाँति दिगदिगन्त में खाली निराली हरियाली ही दृष्टि-गोचर होती है। उसके लिए प्रेमास्पद वस्तु की प्रत्येक बातें नवीनता, प्रफुल्लता और सुष्ठुता धारण कर लेती हैं। उसके हृदय-क्षेत्र में उगे हुए उज्ज्वल अंकुर कभी नहीं कुम्हलाते। वे दिन दिन दूना रात चौगुना वृद्धिङ्गत होते रहते हैं। जिस हृदय में प्रेम-वसन्त अपनी बहार दिखा रहा है उसमें से सत्-क्रियाओं के स्रोत निशिवासर बहते रहते हैं। जिसके हृदय में परोपकार करने की लालसा लगी हुई है उसके लिए नित्य ही नववर्ष का शुभ दिन है। उसके लिये कोई भी मुहूर्त बुरा नहीं। क्रियावान के लिए कोई भी विघ्न नहीं। उसके लिए कण्टक भी कुसुम बन जाते हैं। सारा संसार आशा के

मधुर फलों से सुसज्जित दिखाई पड़ने लगता है। यही है—चिरवसन्त—मधुरमधुमयमधुमास।

इस चिर वसन्त में विहार करने के लिए हमको कहीं दूर न जाना पड़ेगा। किन्तु रुचिर चिरवसन्त के शुभागमन के पूर्व ही हमारे हृदयोद्यान में वैमनस्य, आलस्य, निराशा, दुर्बलता, क्रोध, लोभ, भ्रान्ति, दम्भ, द्रोह, द्वेष, मात्सर्य्य, अहङ्कार आदि अवगुणों के पतझड़ की आवश्यकता है। एक बार यदि आप विश्वप्रेम को अपने हृदय सिंहासन पर स्थान प्रदान करने का दृढ़ संकल्प करेंगे तो सारी क्षुद्रता अपने आप ही जाती रहेगी। जब नई २ पत्तियों का भीतर से ज़ोर होने लगता है तब सूखी हुई पत्तियां आपही आप गिर जाती हैं। एकबार इस चिरचारु वसन्त को अपने हृदयोद्यान में बुलाइये फिर तो इसका राज्य अटल हो जावेगा। आप में बल का सञ्चार होने लग जावेगा। सारी सृष्टि सुखमामयी बन जावेगी। परमानन्द की त्रिविध बयारि आपके उत्साह और आशा को बढ़ावेगी। आपको चारों ओर से सफल-मनोरथ होने का आशीर्वाद मिलने लगेगा।

वसन्त के आ जाने पर पतझड़ की ओर कोई ध्यान भी नहीं देता। एक बार प्रेमवसन्त की स्थापना हो जाने पर फिर सब पिछली निराशायें नामावशेष रह जायँगी।

यदि इस समय पतझड़ हो रहा हो तो आशा मत छोड़ो। पतझड़ में वसन्त की सुहावनी सूचना है। वसन्त अपने समय पर आवेगा। किन्तु हम उसको अपने दृढ़ संकल्प द्वारा शीघ्र ही निमंत्रित कर सकते हैं। उसे

एक बार बुला कर सदा के लिए रोक रखने में समर्थ हो सकते हैं। वह चिरकाल पर्य्यन्त हमारे हृदय में नये नये भावों और शुद्ध संकल्पों को अंकुरित करता रहेगा। वे सब सद्भाव शीघ्र ही सत्क्रिया में परिणत होकर फलवान होते रहेंगे।

हमको केवल उत्साह और आत्मविश्वास की आवश्यकता है। यदि ऋतुराज के स्वागत के अर्थ हमारे पास यह दो अमूल्य रत्न वर्तमान हैं तो वह हमारे जीवन में पदार्पण करने से संकोच न करेंगे। यदि हमको अपने ऊपर विश्वास नहीं, यदि हमारे पास उत्साह की कमी है तो हमको ऋतुराज के निमन्त्रण देने का कोई अधिकार नहीं। यदि हमको सदा वसन्तोत्सव मनाना है तो एक बार दृढ़ संकल्प द्वारा कायरता, हृदय-दौर्बल्य और वीर्य-सून्नता को त्याग क्रियाक्षेत्र में प्रविष्ट होना चाहिये। हमारे क्रियाक्षेत्र में आते ही ऋतुराज का भी आगमन हो जावेगा।

चारुवसन्त के आगमन पर नई २ सम्भावनाओं के सुन्दर सुमन विकसित होने लगेंगे। वही फूल समय पाकर सुन्दर रसदार फल बन जावेंगे।

एक बार इसका सादर स्वागत कर हम सदा के लिये सुखी बन सकते हैं। यह वह अतिथि है जो सब सुख और सम्पत्ति का सामान अपने साथ लाता है। वह हमारे यहां खाने को नहीं आता वरन् अपने फलपुञ्ज से हमको और हमारी सारी समाज को खिलाता है। ऐसे सर्व सम्पत्ति सम्पन्न सहृदय अभ्यागत को बुलाने

में क्या संकोच ? खुद अपने फल और पुष्पों से सदा हमारी तुष्टि पुष्टि करता रहेगा। यदि हम इसका निरादर नहीं करेंगे तो यह परम उदारता के साथ हमारे ऊपर हमारा हर्ष और उत्साह बढ़ाने के अर्थ सदा सफलता रूपी सुन्दर सुमनों की वृष्टि करता रहेगा।

फिर निराशा क्यों ?

बाबू विश्वम्भरनाथ भार्गव के प्रबन्ध से स्टैन्डर्ड प्रेस प्रयाग में छपी

प्रेमोपहार

(Love and Life Series.)

[सम्पादक व प्रकाशक—कुमार देवेन्द्र प्रसाद]

प्रेम-कली Love-Buds ...	१)
प्रेम-पुष्पाञ्जलि Love-Blossoms ...	॥)
प्रेम-पथिक Love's Pilgrim ...	।)
मैत्री-धर्म्म Love and Friendship	।)
शान्ति-धर्म्म Shanti-Dharma ...	।=)
शान्ति-महिमा Shanti-Mahima	।=)
सेवा धर्म्म The Way of Service	।)
पदार्पण (कृष्णाकर) Padarpan ...	।)
समर्पण (कृष्णाकर) Samarpan ..	।)
भावना लहरी Bhawana Lahiri..	=)
सच्चा विश्वास True Faith ...	=)
त्रि-वे-णी Tribeni	≡)
कैसा अंधेर Kaisa Andher ..	।)
मोहिनी Mohini	॥)
धात्री-कर्म-प्रकाश Dhatri Karm Prakasa	१)
बालिका विनय Balika Vinaya ..	=)
उपदेश रत्न माला Updesa Ratanmala	॥)
फिर निराशा क्यों? Why then Despair?	।-)

मिलने का पता -

"प्रेम मंदिर"

आरा।